

# तुलसी प्रज्ञा

अनुसंधान-त्रैमासिकी

अप्रैम - जून १२



जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-३४१३०६  
मान्य विश्वविद्यालय

# तुलसीप्रज्ञा-त्रैमासिक अनुसंधानपत्रिका

खण्ड-१८ ]

शुल्क

[ सन् १९६२-६३

वार्षिक

प्रति अंक

आजीवन

४५)

२०)

५००)

पांच वर्षों के लिए—२००) और दस वर्षों के लिए—४००) रुपये  
शोधकर्त्ता विद्वान् और छात्रों के लिए वार्षिक २५) रुपये में देय

- ० 'तुलसी प्रज्ञा' प्रतिवर्ष—मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर माह के तीसरे सप्ताह में प्रकाशित होती है।
- ० प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि कागज के एक ओर टंकण कराके भेजें। साधारणतया दस पृष्ठों से बड़ा लेख न हो। जरूरी हो तो विवेच्य विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।
- ० लेख मौलिक और अप्रकाशित होना जरूरी है। कृपया ऐसा कोई आलेख भी न भेजें जो प्रकाशनार्थ अन्यत्र भेजा गया हो अथवा भेजा जाना हो।
- ० 'सम्पादक-मण्डल' द्वारा लेखादि में काट-छांट सम्भव है किन्तु भाव और मंशा को सुरक्षित रखा जावेगा। दुर्लभ फोटो और रेखाचित्र मुद्रित हो सकते हैं।
- ० प्रकाशन-स्वीकृति दो माह के भीतर भेज दी जाती है। अस्वीकृत लेख लौटाने संभव नहीं होंगे। अतः प्रतिलिपि सुरक्षित रख लें।
- ० लेखादि हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में निबद्ध हो सकते हैं; किन्तु आगम और प्राकृत, संस्कृत आदि ग्रन्थों से उद्धरण देवनागरी लिपि में लिखें और उद्धृत-ग्रंथों के संस्करण और प्रकाशन-स्थान भी सूचित करें।
- ० समीक्षा और समालोचना के लिए प्रत्येक ग्रंथ की दो-दो प्रतियां भेजें।
- ० सभी प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए—'सम्पादक, "तुलसी प्रज्ञा" जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू-३४१३०६' को संबोधित करना चाहिए।

संपादक

डॉ० परमेश्वर सोलङ्की

# तुलसी प्रज्ञा

खण्ड १८

अप्रैल-जून, १९६२

अंक १

## अनुक्रमणिका

१. संपादकीय (i) जैनागमों की भाषा का मूल स्वरूप (ii) उत्कल के "कलिग जिन"	
२. जैन परम्परा के विकास में श्राविकाओं का योगदान	१
३. पंच परमेष्ठिपद और अर्हन्त तथा अरिहन्त शब्द	३
४. आचार्यश्री तुलसी स्तुति :	१४
५. गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास	१५
६. उत्तराध्ययन के दो संदर्भ	३०
७. जैन एवं जैनेतर राजनीति में दूत	३१
८. जैन दर्शन : स्यादवाद पद्धति	३५
९. अश्रुवीणा में विम्ब योजना	४१
१०. तेरापन्थ का राजस्थानी साहित्य (२)	४९
११. तेरापन्थ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास (२)	५४
१२. षड् आस्तिक एवं बौद्ध दर्शनों में मान्य कर्मवाद से जैन- सम्मत कर्मवाद की विशिष्टता ।	६३
१३. पुस्तक समीक्षा	७१

## English section

1. The doors are open to all.	5
2. Even impossible can take shape through non-violence.	6
3. The Holy Acharyas.	8
4. Xandrames and Sadracottus.	13
5. An Examination of Barhma Sūtra II. 2.33	31
Gleanings—Educational psychology.	39

नोट—इस अंक में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं । यह आवश्यक नहीं है कि सम्पादक-मंडल अथवा संस्था को वे मान्य हों ।

## जैनागमों की भाषा का मूल स्वरूप

गुजरात यूनिवर्सिटी के भूतपूर्व प्राकृत-पालिविभागाध्यक्ष डॉ० के० आर० चन्द्र की एक 'थीसिस'—प्राचीन अर्धमागधी की खोज में—शीर्षक से प्रकाशित हुई है। दलसुखभाई मालवणिया ने डॉ० के० ऋषभचन्द्र के इस सर्वप्रथम प्रयत्न को प्रशंसा के योग्य कहा है और यह साक्षी दी है कि उन्होंने जैनागमों की भाषा का मूल स्वरूप जानने के लिये अशोक के शिलालेख, पालि-पिटक और जैनागमों से ७५ हजार कार्ड तैयार किये हैं। अर्धमागधी में ध्वनि-परिवर्तन और रूप विकास को चीलने को उन्होंने वर्षों तक कठिन परिश्रम किया है।

डॉ० चन्द्र का कहना है कि जैनागमों की रचना पूर्वी प्रदेश-मगध में हुई है और उनकी पाटलिपुत्र वाचना अशोक के शिलालेखों से पूर्ववर्ती है। इस कथन के लिये उन्होंने अनेकों प्रमाण दिये हैं। सूत्रकृतांग (१३) में याथातथ्यम् के लिये 'आहत्तहियं', आचारांग (१९१.२५४) में यथाश्रुतम् के लिये 'अहासुतम्' प्रयोग हैं। ऐसे और भी अनेकों उदाहरण उन्होंने दिये हैं जो धौली, जोगड, कालसी आदि के अशोक-शिलालेखों में यथा के लिए प्रयुक्त 'अथा' से मेल खाते हैं। इस क्षेत्र की पुरानी भाषा-मुण्डा में 'ह' प्रत्यय का वाहुल्य है जो यहां 'अथा' के स्थान पर 'अहा' के रूप में दीख पड़ता है।

वर्तमान कृदन्त—'मान' के लिये आगमों में 'मीन' का प्रयोग है जो धौली के पृथक् लेख में प्रयुक्त 'संपटिपजमीने' और 'विपटिपादयमीने' जैसे पदों में मौजूद है। अर्धमागधी में 'रकार' के लिये 'लकार' मिलता है। ऐसा अशोक के पूर्वी क्षेत्रीय लेखों में भी है। 'सामंत' शब्द का 'समीप' के अर्थ में प्रयोग—'अदूरसामंते', अर्धमागधी में अनेकों स्थलों पर है, वही अशोक के धौली, जोगड, कालसी आदि लेखों में भी है किन्तु गिरनार (२.३) में 'सामीप' है। 'अकस्मात्'—पद वहां ज्यों का त्यों बच गया है।

आयारंग, सूयगडंग और उत्तराजभयण में भाषा के प्राचीन तत्त्व हैं। डॉ० चन्द्र ने 'क्षेत्रज'—शब्द के आचारांग (प्रथम श्रुतस्कंध) में से १६ प्रयोग एकत्र किये हैं और संपादकों द्वारा उन प्रयोगों को भिन्न-भिन्न रूप में लिखने की बात कही है। यहां मूल शब्द 'खेत्तन्न' होना चाहिये। इसी प्रकार आचारांग, प्रथमश्रुत स्कंध, प्रथम अध्ययन, प्रथम उद्देशक का प्रारंभिक वाक्य—'सुतं मे आउसं तेण भगवता एवमवखातं'—होना चाहिये, किंतु संपादकों ने उसके अनेक रूप बना दिए हैं।

डॉ० चन्द्र की यह अभिज्ञा और प्राचीन अर्धमागधी की खोज निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है। यह भारतीय भाषा अध्ययन के लिए नये आयाम खोलती है और प्राकृतों

पर आच्छादित संस्कृत भाषा के पिहित पिधानों को अनावृत्त करती है। वास्तव में 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतम्'—कहना ठीक नहीं है। 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्' अथवा 'प्रकृतीनां साधारण जनानामिदं प्राकृतम्'—कहना ही ठीक है। नमि साधु (११वीं सदी) ने ठीक लिखा है—'सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहित संस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्'—अर्थात् व्याकरण आदि संस्कार से निरपेक्ष प्राकृत समस्त जगत् के प्राणियों की भाषा है।

भगवान् महावीर ने अर्द्धमागधी में धर्मोपदेश किया जो श्रुत परंपरा में संरक्षित होकर महावीर-निर्वाण बाद ९८० में लेखबद्ध हुआ। यह उपदेश-भाषा अर्द्धमागधी ही "आरिस वयणो, सिद्धं देवाणं अद्ध मागहावाणी" कही गई। समवायांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, औपपातिक और प्रज्ञापना में भी इसे अर्द्धमागधी कहा गया है किन्तु स्थानांग, अनुयोग द्वार आदि में ऋषि भाषिता और हेमचन्द्र प्रभृति द्वारा आर्ष भाषा कह दिया गया है।

समवायांग में एक संदर्भ इस प्रकार है—“भगवं च णं अद्धमागहीए भाषाए धम्मं आइक्खए। सा वियणं अर्द्धमागही भासमासिज्जमाणी तेसि सव्वेसि आरियमनारियाणं दुप्पयचउप्पयमिय पसु पक्खि सरिसिवाणं अप्पणो हिय सिव सुहदायभास ताइ परिणमइ” —कि भगवान् महावीर अर्द्धमागधी में उपदेश देते थे जो शान्ति, आनन्द और सुखदायिनी भाषा रूप में आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृप—सभी की अपनी भाषा बन जाती थी।

महामारत (१७.४८) में सात भाषाएं क्रमशः मागधी, अर्द्धमागधी, अवन्ती, प्राच्य, शौरसेनी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या कहीं हैं। यह भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के पूर्व भारतीय भाषाओं की स्थिति-परिस्थिति है। मुद्राराक्षस में जीव-सिद्धि और प्रबोध चन्द्रोदय में क्षणिक मागधी में बोलते हैं। अश्वघोष के बौद्ध-नाटक के जो वृत्तित अंश सेन्ट्रल एशिया में मिले हैं, उनमें भी लूडर्स ने अर्द्धमागधी के प्रयोग पाये हैं।

प्राचीन मागधी में श, प, स के लिये तालव्य शकार का ही प्रयोग था जो जोगीमारा अभिलेख में दीख पड़ता है—शुतनुक नाम देवदशिकिय तं कमयिथ बलन शेये देवदिने नाम लुप दखे—। अश्वघोष के नाटकों में दुष्ट नामक पात्र की भाषा भी मागधी है जो केवल 'शकार' का प्रयोग करता है। इस प्रकार दन्ती सकार का प्रयोग बाद का है जो अर्द्धमागधी और अशोक के लेखों में मिलता है।

वास्तव में महाराष्ट्री का अभ्युदय, जिसे जर्मन विद्वानों ने जैन महाराष्ट्री, जैन सौराष्ट्री, जैन शौनसेनी, दिगंबर भाषा आदि नाम देने का प्रयास किया है और गिरनार पर्वत पर लिखी प्राकृतों से विकसित हुई शौरसेनी, जिसमें दिगंबर संप्रदाय का आम्नाय लिखा गया है—इन दोनों भाषाओं के साथ-साथ यकायक जैन-साहित्य में संस्कृत के व्यापक प्रवेश ने एक नया भाषा वितान बना दिया। उसे समझने की आवश्यकता है। उसे समझे बिना जैनागमों की मूल भाषा का स्वरूप खोज पाना कठिन लगता है।

## उत्कल के “कलिंगजिन”

२.. जैन जगत् के प्राच्य विद्याविद् वानप्रस्थी राम (श्री रामचन्द्र जैन) ने चाहा है कि “महाराजा खारवेल द्वारा उत्कल से नन्दवंश संस्थापक महापद्मनन्द द्वारा वहां से ऋषभ की जबरन ले जाई गई मूर्ति को वापस लाने” पर “तुलसी प्रज्ञा” के आगामी अंक में नया प्रकाश डाल सकें तो जरूर डालें। उनका यह अनुरोध हाथी गुंफा शिलालेख पर ‘तुलसी प्रज्ञा’ में छपी सम्पादकीय टिप्पणियों को लेकर है।

हाथी गुंफा लेख की आठवीं-नौवीं पंक्तियों में ‘कलिंगजिन’ सम्बन्धित निम्न वाक्य है—

—कलिंगजिनं पलवभार/कपरूखे ह्य गज नर रथ सहयाति—

पुनः लेख की बारहवीं पंक्ति में तत्संबंधी एक अन्य वाक्य इस प्रकार है—

—नंदराजनीतं च कलिंगजिनं सनिवेसअंग मगधतो कलिंगं आनेति—

उपर्युक्त दोनों वाक्य कलिंगजिन के संबंध में अतीव महत्त्व की प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत करते हैं। प्रथम वाक्य खारवेल महाराजा की सेना द्वारा गोरथगिरि (अशोक का ‘खलतिक’ पर्वत जिसका पतंजलि-महाभाष्य १-२-२ में भी उल्लेख है) को अधीन कर राजगृह को संत्रस्त करने, जिससे यवनराज मथुरा छोड़कर भाग गया, के बाद सदधर (यमुना के किनारे बसा सहजाति नगर—महाभारत का सोत्थिवती और चेदिवंश का मूल स्थान) के सब गृहपतियों और ब्राह्मणों को पान भोजन देने की सूचना देने के पश्चात् लिखा गया है। यहां कलिंगजिन को ‘पलवभार कपरूखे’ कहा गया है जो अभिधानपदीपिका (४८०-४८१) के अनुसार २००० पल (एक पल = ४ तोला) वजन की मूर्ति है। उक्त वाक्य में लिखा है कि उस मूर्ति की शोभा यात्रा में महाराजा खारवेल साथ-साथ चले। इस प्रकार यह कलिंगजिन मूल प्रतिमा के अभाव में बनी द्वितीय प्रतिमा हो सकती है।

दूसरे वाक्य में, जो राजा खारवेल के बारहवें शासन वर्ष का विवरण है, स्पष्ट लिखा है कि नंदराज द्वारा ले जाई गई ‘कलिंगजिन’ प्रतिमा को उसके सनिवेस अंग सहित मगध से वापस कलिंग में लाया गया। इसलिए यह प्रतिमा ‘पलवभार-कपरूखे’—प्रतिमा से पृथक् और ‘सनिवेस अंग’ वाली थी।

मांचीपुरी गुंफा में बनी दृश्यावली से भी ‘कलिंगजिन’ के संबंध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। गुंफा के मुख्य भाग में कुडेपसिरि, खारवेल और राजकुमार वासुक द्वारा “कलिंगजिन” की पूजा के दृश्य हैं। ‘कलिंगजिन’ के पीछे कल्पवृक्ष बना है और राज-परिवार के पीछे विद्याधर चित्रित हैं। एक और हाथी तथा दूसरी ओर दो रक्षक खड़े दिखाए गए हैं। इसी गुंफा-मांचीपुरी के ऊपरी मंजिल (स्वर्गपुरी) में खारवेल महारानी का लेख है और नीचे की मंजिल में जहां उपर्युक्त पूजा का दृश्य है, कुडेपसिरि और वासुक के लेख हैं।

—परमेश्वर सोलंकी



मांचीपुरी गुंफा में "कालिंग जिन"-पूजन के दो दृश्य

(राज परिवार के पीछे पांच स्टेल्स के साथ राजचिह्न उरकीर्ण है जिसमें चौबीस कमल दल और चौबीस प्रभाव किरणें दिखाई गई हैं।)





## जैन परम्परा के विकास में श्राविकाओं का योगदान

□ डॉ० महावीर राज गेलड़ा

जनरल सर ए० कनिङ्घम ने अपने पुरातत्त्व सर्वेक्षण प्रतिवेदन खण्ड-३, प्लेट XIII-XV में जैन मत और जैन शीर्षकों के खण्डित शिलालेखों के संदर्भ प्रकाशित किए हैं। डा० जाजं भूलर ने इन प्रकाशित प्रतियों की त्रुटियों का सुधार करते हुए अपना मंतव्य प्रकट किया है कि इन शिलालेखों पर अंकित गण, कुल, शाख के वर्णन जैन आगम, कल्प सूत्र में वर्णित गण, कुल एवं शाख से मिलते हैं जो इस बात का सूचक है कि जैन परम्परा विकसित होती हुई इस युग में अनेक शाखाओं में विभक्त हो चुकी थी। यह समय कनिष्क का माना गया है क्योंकि ये शिलालेख अशोक के शिलालेखों से भिन्न हैं। इन शिलालेखों की भाषा संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है जो लगभग सभी हिन्दी स्काईथियन राजाओं के शिलालेखों से मिलता है—डा० होर्नेल ने इसे उत्तरी और उत्तरी पश्चिमी भारत की ईसा पूर्व और बाद की प्रथम शताब्दियों की साहित्यिक भाषा मानी है।

इन शिलालेखों की विकृति का कारण शिलालेखी शिल्पकार नहीं हैं वरन् वे प्रतिकर्ता उत्तरदायी हैं जिन्होंने शिलालेखों से प्रस्तुतीकरण सही ढंग से नहीं किया है। समय के अन्तराल से शिलालेखों के अक्षरों में मात्रा के निशान मिट गये हैं, फलस्वरूप व्यंजन भ्रामक रूप से आपस में बदल गये हैं। उदाहरणार्थ—(व, च) (व, घ) (ल, न) (त, स) आपस में बदले लगते हैं और उसी से प्लेटें भी भ्रामक एवं विकृत बनीं हैं। इनको शुद्ध कर पढ़ने के प्रयास से पता चलता है कि जैन गृहणिएं-श्राविकाएं उदारतापूर्वक दान देती रही हैं। शिलालेख xiii जो कि एक जैनाकृति के नीचे पाया गया है, शुद्ध करने के बाद निम्न प्रकार अनूदित किया जा सकता है।

“सिद्ध, नमन, सम्बत् २०, ग्रीष्म ऋतु का पहला महीना, १५ तारीख, भगवान् वद्धमान की प्रतिमा, भेंट श्राविका दीना (या दीत्ता) द्वारा, दस्तीला की पुत्री, विशाला की पत्नि, जयपाल, देवदास और नगदीना की मां, उपदेशक आर्य संघसिंह की आज्ञा की अनुपालना में, कोटिया गण, विनय कुल, वेभरी शाख, सिरिका उपशाखा।”

इसी प्रकार अन्य शिलालेखों पर श्राविका विकाता भक्ति, रोहिन्दा आदि के नाम आए हैं। सभी शिलालेखों में लिखने की पद्धति एक समान रही है। दानदाता श्राविका का नाम, उसके पति तथा अन्य परिवारजनों के नाम हैं, अन्त में गण, कुल, शाखा, उपशाखा के नाम उल्लेखित हैं। शिलालेखों के खंडित हो जाने से अनेक अक्षर, शब्द विलुप्त हैं लेकिन जिनको पढ़ा जा सका है उनमें निम्न श्राविकाओं के नामों का

उल्लेख है। उज्जिका, कंचूला, कोडाया, यक्षि, घोसा, नदूतराया, धम्मगुत्त माता पुसदेवा, मित्तादेवा, सामिदत्ता, सोनाय, श्रवणा, सकाय, अवासिका आदि ऐसे नाम यद्यपि आज जैन परिवारों में प्रचलित नहीं हैं किंतु दान की उदार परम्परा किसी भांति कम नहीं है।

उक्त शिलालेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व जैन संयुक्त परिवार में नारी का विशेष स्थान रहा है। यह संभव है कि जो जातियां जैन धर्मावलम्बी हैं, उस समय अन्य जातियां रही हों किन्तु जैन धर्म परम्परा ने नारी जाति को गौरवान्वित ही किया है। □

## लखनऊ-संग्रहालय का एक लेख

(संख्या—लख० जे० २०)

- पंक्ति (१) ..... सं० ७०+९ ब्र० ४ दि २० एतस्यां पूर्व्यायां कोट्टिये-  
गणे वैरायां शाखाय
- पंक्ति (२) .....को अय वृध हस्ति अरहंतो नन्दिआवर्तस प्रतिमा  
निर्वर्तयति
- पंक्ति (३) .....भार्यायि श्राविकाये दिनाये दान प्रतिमा द्वे शूपे देव  
निर्मिते प्र०

अर्थात् वर्ष ७९ की वर्षा ऋतु के चतुर्थ मास के २० वें दिन कोटयगण की वैर शाखा के आचार्य वृद्धहस्ति ने अर्हत् नन्दि आवर्त प्रतिमा का निर्वर्तन कराया। (यह निर्वर्तन)—भार्या श्राविका दिना के लिये था जिससे देव निर्मित स्तूप में दो प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हुईं।

## ‘पंचपरमेष्ठिपद और अर्हन्त तथा अरिहन्त शब्द’

□ डॉ० परमेश्वर सोलङ्की

पिछले दिनों में प्रकाशित अपने दो लेखों में साध्वी डा० सुरेखाश्री ने पंच परमेष्ठिपद विषयक परिचर्चा आरम्भ की है। आचारांग, आचारांग चूला, सूयगडांग, ठाणांग, समवायांग, प्रकीर्णकसमवाय, भगवती, नायाधम्मकहा, उवासगदसांग, अंतगडदसांग, निरयावलिका, अनुयोगद्वार, कल्पसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, पण्हावागरण, दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहारसूत्र, औपपातिक, पन्नवणा, दशवैकालिक, आवश्यक सूत्र, मूलाचार, विशेषावश्यक भाष्य, ओघनिर्युक्ति इत्यादि दर्जनों आगमादि ग्रंथों में अर्हत् आदि पद-प्रयोग के शोध-संदर्भ डॉ० सुरेखाश्री ने एकत्र किए हैं। मूलाचार और आवश्यक सूत्र-सन्दर्भों से उन्होंने परमेष्ठिपद की निर्युक्ति पर भी चर्चा की है।<sup>१</sup>

मूलाचार और आवश्यक सूत्र सन्दर्भों से साध्वीश्री लिखती हैं कि राग-द्वेष और कषायों को, पांच इन्द्रियों को, परीषह और उपसर्गों को जिन्होंने नाश किया है उन अर्हन्तों को नमस्कार। उनका दूसरा उद्धरण है—जो नमस्कार के योग्य हैं, लोक में उत्तम देवों द्वारा पूजनीय हैं, आवरण और मोहनीय शत्रु का हनन करने वाले हैं, वे अर्हन्त हैं। उन्होंने अर्हन्नमस्कार का फल और उसका परिणाम भी बताया है और उसे सर्वमंगलों में प्रथम मंगल कहा है।

इस सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन कहते हैं कि ग्रन्थकार द्वारा इष्ट देव को श्लोकादि से जो नमस्कार किया जाता है वह निबद्ध मंगल है और देवता को किया गया आदि नमन अनिबद्ध मंगल है। यह निबद्ध और अनिबद्ध मंगल आने वाले विघ्नों को दूर करता है। केवल अनिबद्ध मंगल से क्योंकि शुक्ल ध्यान नहीं होता, वह विषय परिज्ञान से ही होता है। इसलिए निबद्ध और अनिबद्ध—दोनों प्रकार से मंगल करना चाहिए।<sup>२</sup> वे लिखते हैं—

“मंगल णिमित्त हेउ परिमाणं णाम तह्य कत्तारं । वागरिय छप्पि पच्छा वव्वखणउ सत्थ माइरियो । इदि णायमाइरियपरं परागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरिया योरानु सरणं तिरयणहेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्णं सकारणणं परव्वणट्ठं सुत्तमाह णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं ॥ इदि”

कि मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम और कर्ता—इन छह का कथन करने के पश्चात् आचार्य को शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिए। आचार्य-परम्परा से आए हुए इस न्याय को मन में धारण कर और पूर्वाचार्यों की परम्परा का पालन करना रत्नत्रय

का कारण मानकर आचार्य पुष्पदंत मंगल आदि छह अधिकारों का सकारण व्याख्यान करने के लिए सूत्र कहते हैं—

णमो अरहंताणं—इत्यादि ।

आगे वे ही मंगल के भेदों और उसमें गुणों का बखान करते हुए पुनः लिखते हैं—

“कतिविधं मंगलम् ? मंगल सामान्यान्तदेकविधम् मुख्यामुख्य भेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य भेदास्त्रिविधं मंगलम्, धर्म सिद्ध साध्वर्हद्भेदाच्चतुर्विधम्, ज्ञान-दर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पंचविधम्, ‘णमो जिणाणं’ इत्यादिनानैकविधत्वा । अथवा मंगलमिह छ अहियाराए दंड आववत्तया भवन्ति । तं जहा मंगलं मंगलकत्तामंगलकरणीयं मंगलोवायो मंगलविहाणं मंगलफलमिदि । एदेसि छण्हंपि अत्थो उच्च दे । मंगलत्थो पुद्दुत्तो । मंगलकत्ता चोद्दसविज्जाट्ठाणपारओ आइरियो । मंगलकरणीयं भव्वज्जणो । मंगलवा-योति रपणंसाहणाणि । मंगलविहाणं एणविहादि पुद्दुत्तं । मंगल फलं अब्भुदय णिस्सेयस सुहाइ । तं मंगल सुतस्स आदीए मग्गे अदसाणे च वत्तव्यं । उत्तं च....

आदि अवसाणमग्गे पणतं मंगलं जिणि देहिं ।

तो कय मंगल विणयो इणमो सुत्तं पवक्खामि ॥“

अर्थात् मंगल कितने प्रकार का होता है ? सामान्यतया मंगल एक प्रकार का है । मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का, सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य भेद से तीन, और धर्म सिद्ध, साधु और अर्हन्त भेद से चार प्रकार का तथा ज्ञान, दर्शन व तीन गुप्ति भेद से पांच प्रकार का होता है । अथवा जिनेन्द्रों को नमस्कार कहें तो अनेकों प्रकार का होता है । अथवा मंगल के विषय में छह अधिकारों द्वारा दंडकों का कथन करना चाहिए । जैसे मंगल, मंगलकर्ता, मंगलकरणीय, मंगलउपाय, मंगलभेद और मंगल फल । पाप का गलन-मंगल । चौदह विद्या स्थानों के पारगामी मंगल कर्ता । भव्यजन उसके योग्य । रत्नत्रय उपाय । पूर्वोक्त मंगलभेद और अभ्युदय-मंगलफल । इसलिए मंगल को ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में कहना चाहिए ।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से ऐसा परिज्ञात होता है जैसे आचार्य पुष्पदंत ही इन पंच परमेष्ठि मंगल पदों के कर्ता हैं । कम से कम आचार्य धीरसेन तो ऐसा ही मानते प्रतीत होते हैं । किन्तु महानिशीथ में लिखा मिलता है कि पंचमंगल का व्याख्यान सूत्र की निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में किया गया है वह सीधे तीर्थंकरों से प्राप्त हुआ था । वृद्ध संप्रदाय के अनुसार वज्रस्वामी ने इस महामन्त्र का उद्धार किया और इसे मूल सूत्र में स्थापित किया । शयंभवसूरि भी कायोत्सर्ग को नमस्कार के द्वारा पूर्ण करने का निर्देश देते हैं । भगवती की वृत्ति के आरम्भ में नमस्कार मंत्र लिखा है । प्रज्ञापना के आरम्भ में भी यह महामंत्र है । मलयगिरि ने अपनी वृत्ति में उसकी व्याख्या नहीं की किन्तु दशवैकालिक की दोनों चूर्णियों और हरिभद्रीय वृत्ति में ‘णमो अरहंताणं’ की व्याख्या की गई है ।’

उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन के आरम्भ में ‘सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च

भावओ'—कहकर मध्य में मंगल किया गया है। आवश्यक निर्युक्ति (गाथा १०२७) में लिखा मिलता है कि पंच-परमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करना चाहिए। यह पंच नमस्कार सामायिक का ही एक अंग है। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार नंदी और अनुयोगद्वार को जानकर तथा पंचमंगल को नमस्कार करके सूत्र का आरम्भ किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि भगवान् महावीर दीक्षित हुए तो उन्होंने सिद्धों को नमस्कार किया।

दूसरी समस्या परमेष्ठिपदों की संख्या और क्रम की है। खारवेलप्रशस्ति में केवल दो पद 'अर्हत' और 'सिद्ध' हैं और 'सिद्ध पद' के साथ 'सर्व' विशेषण लगा है। पश्चात्कालीन शिलालेखों में भी अर्हन्तों और सिद्धों को नमस्कार लिखा मिलता है किन्तु पंच परमेष्ठि पदों का एकत्र उल्लेख अभी तक कहीं नहीं मिला।

नमस्कार मंत्र में पदों के पूर्वानुपूर्वी क्रम की पुष्टि के लिए निर्युक्तिकार ने तर्क दिया है कि सिद्ध, अर्हत् के उपदेश से ही जाने जाते हैं। अतः अर्हत् हमारे अधिक निकट हैं। आचार्य मलयगिरि ने भी अर्हत् और सिद्ध में आत्मविकास की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं माना। आत्म-विकास में बाधा डालने वाले चार घात्य कर्म हैं। उनके क्षीण होने पर आत्म-विकास हो जाता है। अर्हन्तों में भवोपग्राही कर्म शेष रहता है जिससे वे शरीर धारण किए रहते हैं, अन्यथा अर्हत् और सिद्ध समान होते हैं।

आचार्य, उपाध्याय और साधु (साहू या मुनि) मुमुक्षुसमाज में तीन उपाधियाँ हैं जो परिषद्कल्प हैं। अर्हत् अथवा सिद्ध इसके नायक हैं—ऐसा मान लें तो परमेष्ठिपदों में संख्या का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं रहता और यह अर्हत् अथवा सिद्ध पद पाने के सोपान बन जाते हैं। फिर भी पांच परमेष्ठिपदों के सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय हैं—

१. जामनगर से प्रकाशित भगवती सूत्र की संस्कृत टीका में 'णमोलोए सर्वसाहूण के स्थान पर 'णमो सर्वसाहूण' पाठ है और टीकाकार ने क्वचित् पाठः कहकर 'णमो लोए सर्व साहूणं, को पाठ-भेद बताया है।

२. अभिधान राजेन्द्र (पृ० १८३५) में उक्त दोनों ही पाठ न होकर 'णमोबंभीए लिवीए' पाठ दिया है। वहां पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

“णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं  
णमो उवज्झायाणं णमो बंभीए लिवीए ॥”

३. खारवेल-प्रशस्ति में 'णमो सर्व सिधानं' पद में सिद्धों के साथ 'सर्व' विशेषण है जो पांच परमेष्ठि पदों में सिद्धों से हटकर साहूण के साथ जुड़ गया है।

४. यह भी विचारणीय है कि पांच परमेष्ठिपदों में केवल “णमो सिद्धाणं” में पांच अक्षर हैं। बाकी तीन पदों में सात-सात अक्षर हैं और अन्तिम 'णमोलोए सर्व साहूणं' में नौ अक्षर हो गए हैं।

५. आवश्यक निर्युक्ति में पंच परमेष्ठिपदों के सूत्र की वैधता पर शंका की गई है कि सूत्र संक्षिप्त होता है अथवा विस्तृत। संक्षिप्त जैसे सामायिक सूत्र और विस्तृत जैसे चौदह पूर्व; किन्तु यह सूत्र न तो संक्षिप्त है न विस्तृत ही। संक्षिप्त हो तो सिद्ध और साधु—दो को ही नमस्कार पर्याप्त होता क्योंकि मुक्ततुल्य अर्हत् सिद्ध

पद में समाहित होते हैं और संसारी, साधु पद में । यदि कहें कि विस्तृत है तो नमस्कार अनेक प्रकार का हो सकता है—

णवि संखेओ न वित्थरो संखेवो दुविहो सिद्ध साहूणं ।

वित्थरओऽणगेविहो पंचविहो न जुज्जइ तम्हा ॥१०१६॥

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा-१०१६

आजकल पंच परमेष्ठि मन्त्र में एक और पद्य जोड़ दिया गया है जो इस प्रकार है—

एसो पंच णमुक्कारो सब्बपावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सब्बेसि पढमं हवइ मंगलं ॥

इस नए पद्य को जोड़कर अड़सठ अक्षरों का नवकार (नमस्कार) मंत्र मान लिया गया है—

बन्नउट्टुसट्ठि नवपय नवकारे अट्ट संपयातत्थ ।

सग संपय पयतुल्ला सतरक्खर अट्टमी दुपया ॥

अर्थात् नवकार मन्त्र में अड़सठ अक्षर होते हैं । नौ पद होते हैं । आठ संयत होते हैं जिनमें सात विराम—स्थानों में एक-एक पद होता है किन्तु आठवें विराम में सतरह अक्षर और दो पद होते हैं । इसी माहात्म्य को यूं भी कहा गया है—

पंच पयाण पणतीस वण्ण चूलाइवण्णा तित्तीसं ।

एवं इमो समप्पइ फुडमक्खर अट्टसट्ठीए ॥

और एक और विधान बताया गया है कि सात, पांच, सात, सात और नौ अक्षर वाले पांच पदों और तेतीस अक्षर की चूलिका को मिलाकर मन्त्र का स्मरण करो ।

सत्त पण सत्त सत्त य नवक्खर पमाण पयड पंच पयं ।

तित्तीसक्खर चूलं सुमरह नवकार वरमंतं ॥

अर्थात् 'णमो अरिहंताणं' में सात अक्षर हैं । 'णमो सिद्धाणं' में पांच, 'णमो आयरियाणं' में सात, 'णमो उवज्झायाणं' में सात और 'णमो लोए सब्ब साहूणं' में नौ अक्षर होते हैं । 'एसो पंच णमुक्कारो' 'सब्ब पाव प्पणासणो' 'मंगलाणं च सब्बेसि—इन तीन पदों में आठ-आठ और 'पढमं हवइ मंगलं' इस अन्तिम पद में नौ अक्षर होते हैं ।

सत्त पण सत्त सत्तय नव अट्ठय अट्ट अट्ट नव हुंति ।

इम पय अक्खर संखा अस्स हु पूरेइ अडसट्ठी ॥

तात्पर्य यह है कि नमस्कार मन्त्र (जो बाद में नवकार मन्त्र बन गया है) किसी भी आगम ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं मिलता । केवल "महा निशीथ सूत्र" में इसका प्रसंग है—

"तद्देव च तदत्थाणुगमियं इक्कारसपयपरिच्छिन्नं ति आलावगतित्तीसऽक्खरपरिमाणं । एसो पंच नमुक्कारो—इय चूलति अहिज्जति ति ।"

इस प्रसंग की वृत्ति में लिखा है—'एयं तु पञ्चमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं, तं महयापबन्धेण अणंत गमपज्जवेहिं सुत्तस्य पियभूयाहिं णिज्जुत्तिभासचुन्नीहिं जहेव अणंत नाणदंसण धरोहिं तित्थयोरेहिं वक्खाणियं, तद्देव समासओ वक्खाणिज्जं तं आसि, अहन्नया

काल परिहाणि दोसेण ताओ णिज्जुत्तिभासचुन्नीओ बुच्छिन्नाओ । इओ य वच्चं तेण कालेणं समएणं महद्विपत्ते पयासुयारी वइर सामी नाम दुवालसंगमुअहरे समुप्पन्ने । तेण य पंचमंगलमहासुयखंडस उद्धारो मूलसूतस्समज्जे लिहिओ । मूलसूतं पुण सुत्ताए गणहरेहि अत्थत्ताए अरिहंतेहि भगवतेहि धम्मतिथ्यरेहि तिलोगमहिंसहि वीर जिणिदेहि पन्नवियं तिएसबुड्डसंपपाओ ।' अर्थात् महानिशीथ सूत्र में यह मंत्र महाश्रुतस्कन्ध कहा गया है । वृत्ति में कहने हैं कि अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के धारक तीर्थंकरों ने इस पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध का जैसा व्याख्यान किया था उसी के अनुसार संक्षेप में निर्युक्ति भाष्य और चूर्णि के द्वारा बड़े प्रयत्न से उसका व्याख्यान निबद्ध किया गया था । किंतु काल के दोष से वे निर्युक्ति, चूर्णि और भाष्य नष्ट हो गए । तब समय बीतने पर द्वादशांग श्रुतधारी महर्द्धि वज्रस्वामी मुनि हुए । उन्होंने पंचमंगल महाश्रुत स्कन्ध का उद्धार करके उसे मूल सूत्र के मध्य लिखा । मूलसूत्र के सूत्रकार तो गणधर देव हैं और अर्थ रूप से उसके कर्ता तीनों लोकों से पूजित भगवान् तीर्थंकर श्री वीर जिनेन्द्र देव हैं । ऐसा वृद्ध सम्प्रदाय है ।

आगे वृत्ति में यह भी लिखा है—'इट्ट देवयायं च नमुक्कारो पंचमंगलमेव गीयमा'—कि हे गौतम । यह पंचमंगल ही देवता को नमस्कार रूप भी है । अभिधान राजेन्द्र (पृ० १८३५) में इसे ही महानिशीथ के हवाले से दौहरा दिया गया है—

"पंचपद नमस्कारश्च सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तरभूतां नवपदश्च समूलत्वात् पृथक् श्रुतस्कन्ध इति प्रसिद्धाम्नाये । अस्य हि निर्युक्ति चूर्णादयः पृथगेव प्रभुता आसीरन्, कालेन तद्व्यवच्छेदे मूलसूत्रमध्ये तल्लेखनं कृतं पदानुसारिणा वज्रस्वामिनेति महानिशीथं यमाध्यायने व्यस्थितम् ।"

भगवती सूत्र वृत्ति के आदि में 'णमो अरहंताणं' आदि पांच पद हैं और प्रत्याख्यान-निर्युक्ति में भी 'णमो अरहंताणं'—आदि पांच पद बोलकर पारणा करने का विधान दिया है । नवकार-निर्युक्ति में भी यही निर्वचन है कि उस नमस्कार में क्रम से ६ पद अथवा दस पद होते हैं । ६ पद—'णमो, अरहंत, सिद्ध, आयरिय, उवज्जाय, साहूणं' और 'नमो अरहंताणं' 'नमो सिद्धाणं' इस प्रकार दस पद । नमस्कार-निर्युक्ति में ८० पद प्रमाण २० गाथाएं हैं किन्तु वे माहात्म्य रूप में हैं ।"

इस प्रकार परमेष्ठिपदों में 'पंच नमोकार' का इतिवृत्त महानिशीथ सूत्र के पुनर्लेखन और धवला टीका के निर्माण-काल से शुरू होता है और उससे अधिक प्राचीन नहीं है । महानिशीथ सूत्र आचार्य हरिभद्र द्वारा संस्कारित है<sup>६</sup> जबकि धवला टीका का लेखन राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) के शासनारम्भ शक-संवत् ७३७ से पूर्व समाप्त हो चुका था । क्योंकि राजा अमोघवर्ष के शासनकाल में शक सं० ७५६ को जय धवला टीका भी लिख दी गई—ऐसा स्वयं जिनसेन ने लिखा है ।"

फिर भी यह कहना कठिन है कि आचार्य पुष्पदन्त से पहले पंच परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र का प्रचलन रहा या नहीं रहा ? इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देना कठिन है । शय्यंभव सूरि का निर्देश—'णमोक्कारेण पारेत्ता' (दसवेआलियं ५.१.६३) और उत्तराध्ययन (दशवां अध्ययन) का उल्लेख—'सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ'

के साथ महानिशीय के उक्त प्रसंग को देखने से यह विश्वास होता है कि भगवान् महावीर के काल में भी नमस्कार मन्त्र का प्रचलन रहा हो सकता है किन्तु यह संभावना भी कमजोर नहीं है कि प्राचीन काल में सामायिक के अंग के रूप में केवल सिद्धों को ही नमस्कार किया जाता रहा हो और आवश्यक सूत्र के रचनाकाल में उसके पांच पद बन गए हों ।

भगवान् महावीर के समय आचार्य, उपाध्याय आदि के पद रहे होने की जानकारी नहीं मिलती; इसलिए यह बाद में उस समय का विस्तार हो सकता है जब साधुओं में से उपाध्याय, आचार्य और अहंन्तों के ऊर्ध्वरेता सोपान बने होंगे—

अरिहंताइ नियमा साहू साहूय तेसु भइयव्वा ।

तम्हा पंचविहो खलु हेउ निमित्तं ह्वइ सिद्धो ॥”

अर्थात् अहंत्, आचार्य और उपाध्याय नियमतः साधु होते हैं परन्तु प्रत्येक साधु अहंत्, आचार्य और उपाध्याय नहीं हो पाता । इस दृष्टि से नमस्कार मन्त्र में चार पद जोड़े गये हो सकते हैं । ऐसा युक्तिसंगत लगता है ।

### अरिहन्त पद ?

“नमो सिद्धान्” अथवा ‘नमः सिद्धेभ्यः’ अतिप्राचीन मंगल है । इसी प्रकार अहंन् या अहंन्त पद भी अति प्राचीन है । आचारांग, सूयगडांग और ठाणांग में इसका “अरहन्त” रूप मिलता है । भगवती, नाथाधम्मकहा और औपपातिक में ‘अरहन्त’ के साथ ‘अरिहंत्’ भी लिखा मिला है । कल्पसूत्र, आवश्यक, दशवैकालिक, पन्नवणा, अनुयोगद्वार और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि में अरिहन्त पद है । परन्तु इन सभी ग्रन्थों की उपलब्ध प्रतिलिपियां अधिक प्राचीन नहीं हैं ।

आवश्यक-निर्युक्ति और घवला टीका में ‘अरिहंत्’ पद का न केवल प्रयोग है, किन्तु उसकी व्याख्या भी की गई है । आवश्यक-निर्युक्तिकार कहते हैं कि पांचों इन्द्रियों के विषय, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये कषाय, बाईस प्रकार के परीषह, शारीरिक, मानसिक वेदना और उपसर्ग, जीवन के शत्रु हैं और आठ प्रकार के कर्म सब जीवों के शत्रु हैं । इन शत्रुओं का, अरियों का जो नाश करते हैं वे अरिहन्त हैं ।’

घवला टीकाकार कहते हैं कि नरक, तिर्यंच, कुमनुष्य और प्रेत योनि के दुःखों का मूल कारण मोह है । मोह न रहे तो बाकी सात दुःख भी नहीं होते । इसलिए मोह को जो नाश करे वे ‘अरिहंत्’ होते हैं । ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म रज के समान हैं, उनका जो नाश करे अथवा अन्तराय कर्म-रहस्य को जो नष्ट करे वह ‘अरिहन्त’ है ।”

इन दो सन्दर्भों से पूर्व का कोई ऐसा संदर्भ नहीं है जहां ‘अरिहंत्’ रूप प्रयुक्त हो, किन्तु बाद के अनेकों संदर्भ हैं । अभयदेवसूरि द्वारा अरहंत् की व्युत्पत्ति अनेकों प्रकार से बताई गई है । वहां पाठांतर में उपलब्ध ‘अरिहंताणं’ की व्याख्या के साथ ‘अरूहंताणं’ पद की भी व्याख्या है । अर्थात् वे अरिहंताणं और अरूहंताणं को एक साथ प्रचलित होना मानते प्रतीत होते हैं ।”

आचार्य कुन्दकुन्द ने अरूहंत् और अरहंत् का ही प्रयोग किया है । बौध्प्रभात की गाथाओं (क्रमांक २८, २९, ३०, ३२ आदि) में अरहंत् प्रयोग है । गाथा ३० में दी



व्याख्या पंचाध्यायी (२.६०७) से मिलती है—

जर वाहि जन्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च ।  
हंतूण दोषकम्मे हुउणाणमयं च अरहंतो ॥  
मिलावें—

दिव्यौदारिक देहस्था घोटद्याति चतुष्टयः ।  
ज्ञानवृन्वीर्यं सौख्याद्दयः सौहृन् धर्मोपदेशकः ॥

### मूलपद अहन्त है

वायुपुराण (१०४.७) में छह दर्शनों में अहत् एक दर्शन है—

ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथाहंतम् ।  
षड्दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च ॥

वराहमिहिर अपनी बृहत्संहिता (५८.४५) में अहत् देव की मूर्ति का लक्षण लिखता है—

आज(नुलम्बबाहु श्रीवत्सांकः प्रशान्तमूर्तिश्च ।  
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽहंतां देवः ॥

कवि-कुलगुरु-कालिदास रघुवंश (५.२५) में ऋषि कौत्स को अहत् संबोधन देता है—

द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमहन्, यावद्यत्ते साधयितुंत्वदर्थम् ॥

अमरकोषकार ने अहंतों के तीन नाम बताए हैं—

स्यात्स्याद्वादिक आर्हकः आर्हत इत्यपि ।

आदि शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य (२.२.३३) में अहंतों की मान्यता लिखते हैं—  
शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हतामन्यन्ते ।

आचार्य हेमचन्द्र (योगशास्त्र २.४) अहत् को त्रैलोक्य-पूजित और यथार्थज्ञानी और परमेश्वर कहते हैं—

सर्वज्ञो जितरागादि दोषस्त्रैलोक्य पूजितः ।

यथा स्थितार्थवादी च देवोऽहन् परमेश्वरः ॥

बौद्ध वाङ्मय में महात्मा बुद्ध को अरहन्त कहा गया है । त्रिपिटक के धम्मपद में 'अरहन्वग्गो' प्रकरण है । उसमें उसे 'अरहंत' कहा गया है जिसने अपनी जीवन यात्रा पूरी करली, जो शोक रहित है, संसारमुक्त है और परिग्रह व कष्टरहित है—

गतद्विनों विसोकरस विष्पमुत्तस्स सव्वधि ।

सव्वगन्थपहीनस्स परिलाहो न विज्जति ॥

संयुक्त निकाय (५.१६४) में महात्मा बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ ! प्राचीन काल में जो भी 'अरहन्त' तथा 'बुद्ध' हुए थे उनके भी ऐसे ही दो-दो मुख्य अनुयायी थे जैसे मेरे अनुयायी 'सारिपुत्र' और 'मोग्गयान' हैं ।

ऋग्वेद में भी अहन् और अहन्त शब्द अनेकों मंत्रों में प्रयुक्त हुआ है—

१. अहन् विर्भाष सायकानि धन्वार्हन्निकं यजतं विश्वरूपम् ।

अहंनिदं दयसे विश्वमम्बं नवाओजीओ रुद्रत्वदस्ति ॥

—ऋक्-२.३३.१०

२. द्वेनधुदेववतः शतेगोद्वारथा वधूमन्तासुदासः ।

अहंन्गने पैजवनस्य दानं होते व सद्म पर्येभिरेभन् ॥

—ऋक्-७.१८.२२

३. सद्रुह्वणे मनुष ऊर्ध्वसानआसा विषदर्शसानायशरूम् ।

सनृतमो नहुषोऽस्मत्सुजातः पुरोऽभिनदहंन् दस्युहृत्ये ॥

—ऋक्-१०.६६.७

उपर्युक्त तीन मंत्रों में, प्रथम मंत्र में अहंन् को रुद्र के समान ओजस्वी बताया गया है और उससे विश्वमम्ब, विश्वरूप और धन्वसायकों की पूति चाही गई है। दूसरे-तीसरे मंत्रों में अहंन् को देववत राजा के पीत्र और पिजवन के पुत्र सुदास और मनुष्यों में श्रेष्ठ नहुष के साथ उल्लेख किया गया है और उसे ऊर्ध्वसान—शत्रुओं को नष्ट करने वाला कहा गया है।<sup>१३</sup>

इन तीन मंत्रों में प्रयोग के अलावा मंत्र (२.३.१) में 'देवो देवान्यजत्वग्निरहंन्' मंत्र (२.३.३) में 'अहंन् देवान् यक्षि' मंत्र (५.७.२) में—'अहंन्तश्चिद्यमिन्धते' मंत्र (५.२२.५) में—'अहंन्तो ये सुदानवो नरो असामिश्रवसः', मंत्र (५.८६.५) में 'अहंन्ता चित्तपुरोदधेऽश्वेव देवान्वतते' मंत्र (१०.२.२) में 'देवो देवान्यजत्वग्निरहंन्'—इत्यादि अनेकों मंत्रों में भी अहंन् और अहंन्त पद क्रमशः यागयोग्य, प्रशंस्य, यजमानयोग्य, पूज्य आदि अनेकों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

### अहं पूजायाम्

पाणिनि ने अपने धातु पाठ में 'अहं पूजायाम्'-धातु को परस्मैपदिन् क्रमांक् ७४०, चुरादि क्रमांक १७३१ और क्रमांक १८३० पर तीन बार पढ़ा है। उसने अहं शब्द को 'पूजायांयोग्यत्वे च'—पूजा और योग्यता दो अर्थों में प्रयोक्तव्य कहा है। अष्टाध्यायी सूत्र (५.१.६१) "तदहंति" के अनुसार अहंति—लब्धुं योग्यो भवति-पद में दूसरे सूत्र (५.१.११७) "तदहंम्" से वत् प्रत्यय और सूत्र (७.१.७०) 'उगिदचां सर्वनाम स्थानेऽधातोः' से नुम् का आगम होते हैं और अहंति-आनहं-अहिता-आहिष्यन्-आहीत्-अह्यात्-अजिह्विषति-अह्यंते-आहि और अह्यंति-ते, अह्यंत्-अह्यंत्, आस, चकार, चक्रे, अह्यंतिता-आजिह्वत्-त्तं अह्यंत् अह्यंतिषीष्ट-अजिह्विषति-अह्यंते—आहि-अह्यित्वा आदि अनेकों रूप बन सकते हैं।

इसी प्रकार अहं से शतृ प्रत्यय लगने से संस्कृत व्याकरण के अनुसार ही वर्तमान काल में कर्ताकारक के एक वचन का रूप अहंत् भी बन सकता है।<sup>१४</sup>

अहंत् का बहुवचन "अहंन्तः" उपर्युक्त ऋग्वेद मंत्रों में प्रयुक्त है और उसका लौकिक रूप 'अरहंत' खारवेल-प्रशस्ति में तथा खारवेल की अग्रमहिषी (महारानी) द्वारा बनवाई गई गुफा के लेख में है—

"अरहंत पसादाय कलिगानं समनानं लेनं कारितं"<sup>१५</sup>

## सारांश

इस प्रकार पंच परमेष्ठिपदों के मंत्रराज का विकास जहाँ तंत्रमंत्र और आध्यात्म जगत् के विकास में जैन जगत् का योगदान है वहाँ “नमःसिद्धेम्यः”—मंगल वाक्य का नमस्कार या नवकार मंत्र के रूप में विकास जैन ऐतिहा की अति प्राचीन और सुदीर्घ कालीन चिंतन-परम्परा का परिचायक है ।”

□□

## संदर्भ

1. तुलसीप्रज्ञा, लाडनू अंक १७/२ जुलाई-सितम्बर १९६१ में प्रकाशित—‘क्या सामान्य केवली के लिए अहंन्त पद उपयुक्त है?’ और ‘तित्थयर’ कलकत्ता अंक १५/४ अगस्त १९६१ में प्रकाशित—‘पंचपरमेष्ठिपद नियुक्ति’—शीर्षक दो लेख ।
2. आचार्य वीरसेन द्वारा बताई गई यह निबद्ध-अनिबद्ध मंगल की परम्परा अतीव प्राचीन है । खण्डगिरि की ‘खारवेल प्रशस्ति’ के आदि व हासिए पर अनिबद्ध मंगल के रूप में वद्धमंगल (बाद का मंगलकलश) और स्वस्तिक और लेख के दाहिने ओर, नदिपद और अन्त में वृक्षचैत्य बने हैं । निबद्ध-मंगल के रूप में प्रशस्ति-लेख से पूर्व में ‘नमो अरहंताणं नमो सव्व सिघानं’ लिखा गया है । इसी प्रकार अनन्त गुंफा, बैकुण्ठ गुंफा और बाघ गुंफा के लघुलेखों से पूर्व भी अनिबद्ध मंगल रूप में वृक्षचैत्य, स्वस्तिक, नदि पद, त्रिरत्न आदि बने हैं । जूनागढ़ की जैन गुंफा, सांची स्तूप, तोरण आदि में भी ये मंगल चिह्न हैं । कान्हेरि पर्वत के एक लेख में नदिपद का नामोल्लेख भी है ।
3. आचारांग, स्थानांग और समवायांग का आरम्भ ‘सुयंमे आउसं’ और सूत्र कृतांग का ‘बुज्जेज्ज त्तिउट्ठेज्जा’ पदों से होता है, किंतु भगवती के सूत्रारम्भ से पूर्व ‘नमो अरहंताणं’ ‘नमो बंधीए लिवीए’ और ‘नमो सुयस्स’—तीन प्रकार के मंगल वाक्य लिखे मिलते हैं । भगवती के पंद्रहवें शतक के आरम्भ में भी ‘नमो सुयदेव-याए भगवईए’ लिखा है । प्रज्ञापना सूत्र का आरम्भ मंगल वाक्य से है और नमस्कार मंत्र भी वहाँ लिखा है किन्तु हरिभद्रसूरि और मलयगिरि ने उसकी व्याख्या नहीं की । षट्खंड का आरम्भ नमस्कार मंत्र से है और दशाश्रुतस्कंध की वृत्ति में नमस्कार मंत्र की व्याख्या है । इस विषयक एक गाथा इस प्रकार है—

आगे चौबीसी हुइ अनंती होसी बार अनन्त ।

नवकार तणी कोइ आदि न जाणे ऐमभासे अरिहंत ॥

इसी गाथा से मिलती-जुलती बात ‘लघुनवकारफल’ नामक ग्रन्थ की निम्न तीन गाथाओं में है—

जिणसासणस्स सारो चउवसपुव्वाण जो समुद्धारो ।

जस्स मणे नवकारो किं कुणइ तस्स संसारो ॥

खण्ड १८, अंक १ (अप्रैल-जून, ६२)

११

एसो आणाइ कालो अणाइ जीवो अणाइ जिणधम्मो ।

तइथा विते पढंता एसुच्चिय जिणणमुक्कारं ॥

जे केइ गया मोक्खं गच्छंति य केऽविकामफलमुक्का ।

ते सब्बे विय जाणसु जिण नवकारप्पभावेण ॥

४. देखें—आवश्यक निर्युक्ति गाथा १०२६ और मूलाराधना की गाथा, और १/४३.

५. महानिशीथ सूत्र की ३० वीं गाथा की टीका इस प्रकार है—

‘अन्यत्र तु सम्प्रति वर्तमानागमसूत्रमध्ये न कुत्राप्येवं नवपद अष्ट संपदादि प्रमाणो नमस्कार उक्तो दृश्यते, यतो भगवत्यादौ चैवं पंचपदान्युक्तानि—नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो (लोए) सब्बसाहूणं, नमो बंभीए लिवीए इत्यादि । क्वचिन्नमो लोए सब्ब साहूणं ति पाठ इति तदवृत्तिः । प्रत्याख्यान निर्युक्तौ तु नमस्कार सहित प्रत्याख्यान पारण प्रस्तावे चूर्णाविदमुक्तं—नमो अरिहंताण भणित्वा पारयति । नवकार निर्युक्ति चूर्णोत्वेवमुक्तं—तथाहि सो नमुक्कारो कमा छ पयाणि वा दसवा । तत्थ छ पयाणि नमो अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहूणं ति । दशत्वेवं नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं इत्यादि । यत्तुनः नमस्कार निर्युक्तौ अशीति पद माना विशतिगाथा संति यथा—अरिहंत नमुक्कारो-इत्यादयः ता नवकार माहात्म्य प्रतिपादिका न पुनर्नवकार रूपा भवितुमर्हन्ति, बहुपदत्वात्तासां नवकारस्य तु नवपदात्मकत्वात् ।’

६. महानिशीथ सूत्र के पुनर्लेखन विषयक वृत्तांत, निशीथ सूत्र में ही लिखा है कि आचार्य हरिभद्र ने अपने बुद्धिबल से दीपक लगी त्रुटित प्रति से उसे पूरा किया था—

‘जत्थय पयंपयेणाणु लग्गं सुत्तालावगं न संपज्जइ, तत्थ तत्थ सुपहरोहं कुलिहिय दोसो न दायव्वुत्ति । किंतु जो सो एयस्स अचित्ति चित्तामणि कप्पभूयस्स महानिसोह सुयक्खंधस्स पुब्बायरिसोआसि महुराए सुपासनाह थूहे पन्नसेहि उववासेहि विहिणंसि सासण देवीए मम अप्पिउ ति ताहिं चैव खंडाखंडीस उद्देहियाइएहि हेऊहिवहवे पतंगा परिसड्डिया तहावि ऊच्चंत सुमहत्था इसयं इमं परं महानिसोह सु अक्खंधं कसिण पवयणस्स परमं सारभूयं परं तत्तं महत्थंति कलिऊण पवयणवच्छलतेणं तहाभव्व सत्तोव पारयं च काउं तहाय आयहिय टत्याएं आयरिय हरिभद्धेण जं तत्थायरिसेदिट्ठंतं सब्बं समइए सोहिऊण लिहिअंति अन्येहिं यि सिद्धसेण दिवायर-वुडुवाइ-जक्खसेण-देवगुत्त-जसवद्धण-खमाखमण सोस रविगुत्त—नेमिचन्द जिनदास गणि खमण-सच्च सिरियमुहेहिं जुगप्प हाण सुपहरोहं बहुमंनि यमिणं ।’

७. अमोघवर्ष राजेन्द्र राज्य प्राज्यगुणोदया ।

नि ष्ठता प्रचयं यायादाकल्पांतमनल्पिका ॥८॥

एकोनषष्टि समधिक सप्त शताब्देषु शक नरेन्द्रस्य ।

समतीतेषु समाप्ता जय धवला प्राभूत व्याख्या ॥९॥

—जयधवला प्रशस्तिः

८. आवश्यक निर्युक्ति गाथा—१०२०

९. इन्द्रियविसयकसाये परीसहे वेयणाओ उवसगो ।

ए ए अरिणो हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥६१६॥

अट्टविहं वि अ कम्मं अरिभू अं होइ सव्व जीवाणं ।

तं कम्ममरिहंता अरिहंता तेण वुच्चंति ।६२०॥

१०. 'नरक तिर्यक्कुमानुष्य प्रेतावासगताशेष दुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः । तथा च शेष कर्म व्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेष कर्मणां मोहत्तन्त्रत्वात् । न हि मोहमन्तरेण शेष कर्माणि स्वकार्यं निष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते, येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत । मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेष कर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरण प्रवन्ध लक्षणसंतारोत्पादन सामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्व समानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च । तस्यारेहंननादरिहन्ता । —छत्रखंडागमे, जीवदृष्टाणं पृ० ४४

११. तुलसीप्रज्ञा, लाडनू अंक १७/२ में साध्वी डा० सुरेखाश्री का लेख पृष्ठ ८५ और ८६ ।

१२. देवतराजा के पीत्र, पिजवनराजा के पुत्र, राजा सुदास और राजा नहुष ऐतिहासिक पुरुष हैं । इनके साथ ऊर्ध्वसान अर्हत् का उल्लेख जैन-इतिहास के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण है । इन संबंध में शोध किए जाने की आवश्यकता है ।

१३. अर्ह से शत् प्रत्यय होकर अर्हत् (वर्तमान में कर्ताकारक का एक वचन) बन सकता है । 'लशक्वद्विते' (१.३.८) से शत् के शकार की इत् संज्ञा होकर तस्यलोपः (१.३.९) से श लोप और 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' (१.३.२) से ऋकार को इत् और ऋकार लोप होकर 'अज्झीणं परेण संयोज्यम्' न्याय से अर्ह+अत् का "अर्हत्" रूप बनेगा ।

१४. शिलालेखों में, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियों में से मंत्रराज के स्वरूप-विकास को संकलित किया जाना अपेक्षित है ।

१५. गोरक्ष पद्धति के अनुसार अपान और प्राण को मिलाकर मूलबंध का अभ्यास करने से मल-मूत्र क्षय होकर वृद्ध भी जवान हो जाता है ।

“अपान प्राणयोरेक्यात् क्षयो मूत्र पुरीषयोः ।

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥

इस तथ्य का अन्वेषण उत्साहजनक परिणाम दे रहा है ।

मंत्रराज में 'नमो' का 'णमो' में बदलना और 'ओ३म्' ध्वनि के साथ उसे बार-बार दोहराना 'गोरक्ष पद्धति' के उक्त अभ्यास को ही बढ़ावा देता प्रतीत होता है क्योंकि 'ओ३म्' के महाघोष से मूलाधार की वायु ऊपर प्राण वायु में मिलती है । 'णमो' से नाभि-मणिपुर और अनाहत चक्र एकाकार होते हैं और 'अरहंताणं' उच्चारण से सिद्धता बढ़ती है । इसी प्रकार पूरे "मंत्रराज" का अलौकिक प्रभाव होता प्रतीत होता है जो प्रयोगजन्य उपलब्धि ही कही जा सकती है । □

खण्ड १८, अंक १ (अप्रैल-जून, ६२)

१३

मुनि नथमल द्वारा

## आचार्यश्री तुलसीस्तुति :

आभ्यन्तरध्वान्तहरं प्रकाशं,  
सौम्यं निःक्लं त्रसनं निपक्षम् ।  
बुद्धिं च विद्यां परमाप्तगन्त्रीं,  
नीतिं पवित्रां दमनं निखर्वम् ॥  
भास्वान् हिमांशुर्महिजो बुधश्च,  
गुरुः कविः शौरिरिमेऽनुसंख्यम् ।  
सप्ताऽपि वारा इह बद्धवारा-  
स्त्वां यान्ति पूर्वोदितमाप्तुकामाः ॥  
मति श्रुतज्ञानयुत स्त्वमीश !,  
श्री केवल ज्ञानयुतोऽहमस्मि ।  
त्वं वेत्सि भावान् विविधान् विशिष्टान्,  
त्वामेव जानाम्यहमात्मरूपम् ॥  
प्रतिक्षणं त्वां च निरीक्षमाणः,  
स्म केवलज्ञानयुतो भवामि ।  
स्यान्नान्तरायो नियमस्त्वयेति,  
सिद्धान्त सिद्धः प्रतिपालनीयः ॥

अर्थात् रवि, सोम, मंगल, बुद्ध, गुरु, शुक्र और शनि—सातों बार क्रमशः आन्तरिक अन्धकार, निष्कलंक सौभ्यता, पक्षपात शून्य त्रास, बुद्धि विकास, अध्यात्म विद्या, पवित्र नीति और निखर्व दमन को जानने के लिए बारि-बारि जिज्ञासु होकर आपके सामने प्रस्तुत हो रहे हैं क्योंकि आप मति और श्रुत ज्ञान से समृद्ध हैं ।

भगवन् ! आप अनेकों शिष्यों को देखते हैं किन्तु मुझे तो केवल एक ही ज्ञान है और उससे मैं केवल आप की ओर देख रहा हूँ ।

केवली का ज्ञान अबाधित और निरन्तर बना रहता है । मैं केवल उसी केवली ज्ञान से युक्त होने को आपको देखता हूँ । इसमें कहीं अंतराय न हो—यही एक प्रार्थना है ।

—युवाचार्य महाप्रज्ञ

## गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

□ प्रो० सागरमल जैन

(मुझे लगता है कि कसायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य के काल में आध्यात्मिक-विशुद्धि या कर्म-विशुद्धि का जो क्रम निर्धारित हो चुका था, वही आगे चलकर गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व में आया। यदि कसाय-पाहुड और तत्त्वार्थ चौथी शती या उसके पूर्व की रचनायें हैं तो हमें यह मानना होगा कि गुणस्थान की, सुव्यवस्थित अवधारणा चौथी और पांचवीं शती के बीच ही कभी निर्मित हुई है, क्योंकि लगभग छठी शती से सभी जैन विचारक गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा करते प्रतीत होते हैं, इसका एक फलितार्थ यह भी है कि जो कृतियां गुणस्थान की चर्चा करती हैं वे सभी लगभग पांचवीं शती के पश्चात् की हैं। यह बात भिन्न है कि तत्त्वार्थसूत्र और कसायपाहुड को प्रथम-द्वितीय शताब्दी का मानकर इन ग्रन्थों का काल तीसरी-चौथी शती माना जा सकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि षट्खण्डागम, भगवती आराधना एवं मूलाचार के कर्ता तथा आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति से परवर्ती ही हैं, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। —लेखक)

व्यक्ति के आध्यात्मिक शुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैन दर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति विशेष के आध्यात्मिक विकास का मूल्यांकन इसी अवधारणा के आधार पर होता है। यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है, तथापि प्राचीन स्तर के जैन आगमों यथा—आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। श्वेताम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम समवायांग में जीवस्थान के नाम से इसका उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि १४ गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, किन्तु उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है।<sup>१</sup> समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर-परम्परा में गुणस्थानों के १४ नामों का निर्देश आवश्यक निर्युक्ति में उपलब्ध है, किन्तु वहां भी नामों का निर्देश होते हुए भी उन्हें गुणस्थान (गुणठाण) नहीं कहा गया है।<sup>२</sup> यहां यह भी स्मरणीय है कि मूल आवश्यक सूत्र जिसकी निर्युक्ति में ये गाथाएं आई हैं—मात्र चवदह भूतग्राम हैं, इतना बताती हैं, निर्युक्ति उन १४ भूतग्रामों का विवरण देती है। फिर उसमें इन १४ गुणस्थानों का विवरण भी दिया गया है किन्तु ये गाथाएं प्रक्षिप्त लगती हैं, क्योंकि हरिभद्र (द्वितीय शती)

ने आवश्यक निर्युक्ति की टीका में 'अधुनामुपैव गुणस्थान द्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार .....' कहकर इन दोनों गाथाओं को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन निर्युक्तियों के रचनाकाल में भी गुणस्थान की अवधारणा नहीं थी। निर्युक्तियों के गाथा क्रम में भी इनकी गणना नहीं की जाती है।<sup>1</sup> इससे यही सिद्ध होता है कि निर्युक्ति में ये गाथाएं संग्रहणी सूत्र से लेकर प्रक्षिप्त की गई हैं। प्राचीन प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बर-परम्परा में इन १४ अवस्थाओं के लिए 'गुण-स्थान' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (७वीं शती) में मिलता है, उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया है।<sup>2</sup> जहां तक दिगम्बर-परम्परा का प्रश्न है उसमें कसायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम,<sup>3</sup> मूलाचार<sup>4</sup> और भगवती आराधना<sup>5</sup> जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवन्दी की सर्वार्थ-सिद्धि,<sup>6</sup> भट्ट अकलंक के राजवातिक,<sup>7</sup> विद्यान्दी के श्लोक वातिक<sup>8</sup> आदि दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों के मूल सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि षट्खण्डागम को छोड़कर शेष सभी इसे गुण-स्थान के नाम से अभिहित करते हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में भी आवश्यकचूर्णि,<sup>9</sup> तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेनगणि की वृत्ति<sup>10</sup>, हरिभद्र की तत्त्वार्थसूत्र की टीका<sup>11</sup> आदि में इस सिद्धान्त का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है।

हमारे लिये आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति ने जहां अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैनधर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है, वहां उन्होंने १४ गुणस्थानों का स्पष्ट रूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। तत्त्वार्थभाष्य, जो तत्त्वार्थसूत्र पर उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका मानी जाती है, उसमें भी कहीं गुणस्थान की अवधारणा का उल्लेख नहीं है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैनधर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उस काल तक गुणस्थान की अवधारणा विकसित हो चुकी थी तो फिर उमास्वाति ने अपने मूल ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में अथवा उसकी स्वोपज्ञ टीका तत्त्वार्थभाष्य में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि वे गुणस्थान-सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यवहृत कुछ पारिभाषिक शब्दों का, यथा—बादर संपराय, सूक्ष्म संपराय, उपशान्त मोह, क्षीण मोह आदि का स्पष्ट रूप से प्रयोग करते हैं। यहां यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है कि उन्होंने ग्रंथ को संक्षिप्त रखने के कारण उसका उल्लेख नहीं किया हो, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र नवें अध्याय में उन्होंने आध्यात्मिक विशुद्धि (नर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है।<sup>12</sup> पुनः तत्त्वार्थभाष्य तो उनका एक व्याख्यात्मक ग्रंथ है, यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती तो उसका वे उसमें अवश्य प्रतिपादित करते। तत्त्वार्थभाष्य में भी गुणस्थान सिद्धान्त की अनुपस्थिति से यह प्रतिफलित होता है कि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की ही स्वोपज्ञ टीका है। क्योंकि यदि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका न होती, तो तत्त्वार्थ-सूत्र की अन्य श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी टीकाओं की भांति, उसमें भी कहीं न कहीं गुण-स्थान की अवधारणा का प्रतिपादन अवश्य होता। इस आधार पर पुनः हमें यह भी



मानना होगा कि तत्त्वार्थभाष्य, तत्त्वार्थसूत्र की सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर टीकाओं की अपेक्षा प्राचीन और तत्त्वार्थसूत्र की समकालिक रचना है। क्योंकि यदि वह परवर्ती होता और अन्य दिगम्बर-श्वेताम्बर टीकाकारों से प्रभावित होता तो उसमें कहीं न कहीं गुणस्थान की अवधारणा अथवा गुणस्थान शब्द का प्रयोग अवश्य ही होता। क्योंकि तत्त्वार्थभाष्य को छोड़कर तत्त्वार्थसूत्र की एक भी श्वेताम्बर या दिगम्बर टीका ऐसी नहीं है, जिसमें कहीं न कहीं गुणस्थान की चर्चा नहीं हुई हो।

यद्यपि पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता स्वीकार की गई है।<sup>14</sup> किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य दिगम्बर विद्वानों की जो यह अवधारणा है कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थसूत्र पर स्वयं उमास्वाति की टीका नहीं है और परवर्ती किसी श्वेताम्बर आचार्य की रचना है।<sup>15</sup> वह इन तथ्यों से भ्रांत सिद्ध हो जाती है।

### गुणस्थान की अवधारणा का ऐतिहासिक विकासक्रम

गुणस्थान की अवधारणा के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने की दृष्टि से एक तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि न केवल प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों में, अपितु दिगम्बर परम्परा में आगम रूप में मान्य कसायपाहुडसुत्त में तथा तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थान की अवधारणा का कहीं भी सुव्यवस्थित निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि इन तीनों ग्रंथों में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों जैसे—दर्शनमोह-उपशमक, दर्शनमोहक्षपक, (चारित्रमोह) उपशमक, (चारित्रमोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि के प्रयोग उपलब्ध हैं। मात्र यही नहीं ये तीनों ही ग्रंथ कर्म-विशुद्धि के आधार पर आध्यात्मिक विकास की स्थितियों का चित्रण भी करते हैं। इससे ऐसालगता है कि इन ग्रंथों के रचनाकाल तक जैन परम्परा में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांग सूत्र उन्हें जीवस्थान (जीवठाण) कहता है, वहीं षट्खण्डागम में उन्हें जीवसमास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों ग्रंथ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से किंचित् परवर्ती और इन १४ अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करने वाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रंथ समकालिक भी अवश्य है क्योंकि हम देखते हैं कि छठी शताब्दी और उसके पश्चात् के श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रंथों में विशेष-रूप से कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में गुणस्थान शब्द का प्रयोग बहुलता से किया जाने लगा था। इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि जैन परम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी, चौथी शताब्दी के अन्त से लेकर पाँचवीं शताब्दी के बीच यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया है। षट्खण्डागम, समवायांग दोनों ही इसके लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न कर क्रमशः जीवस्थान और

जीवसमास शब्द का प्रयोग करते हैं—यह बात हम पूर्व में भी बता चुके हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सबसे पहले गुणस्थान शब्द का प्रयोग आवश्यकचूर्ण में किया गया है, उसके पश्चात् सिद्धसेनगण की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति और हरिभद्र की आवश्यक निर्युक्ति की टीका के काल तक अर्थात् ८वीं शती के पहले उस परम्परा में इस सिद्धान्त को गुणस्थान के नाम से अभिहित किया जाने लगा था। जैसा कि हम देख चुके हैं—दिगम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम षट्खण्डागम, मूलाचार और भगवती आराधना (सभी लगभग पांचवीं-छठी शती) में गुणस्थानों का उल्लेख उपलब्ध होता है। कसायपाहुड में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति तो देखी जाती है फिर भी उसमें १४ गुणस्थानों की सुव्यवस्थित अवधारणा अनुपस्थित है। षट्खण्डागम में इन १४ अवस्थाओं का उल्लेख है, किन्तु इन्हें जीवसमास कहा गया। मूलाचार में इनके लिए 'गुण' नाम भी है और १४ अवस्थाओं का उल्लेख भी है। भगवती आराधना में यद्यपि एक साथ १४ गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है किन्तु ध्यान के प्रसंग में ७वें से १४वें गुणस्थान तक की मूलाचार की अपेक्षा भी, विस्तृत चर्चा हुई है। उसके पश्चात् पूज्यपाद् देवनन्दी की सवार्थसिद्धि टीका में गुणस्थान (गुणठाण) का विस्तृत विवरण मिलता है। इन सभी का सन्दर्भ उल्लेख मेरे द्वारा बन्धन के प्रारम्भ में किया जा चुका है। पूज्यपाद् देवनन्दी ने तो सवार्थसिद्धि (सत्प्ररूपण आदि) में मार्गणाओं की चर्चा करते हुए प्रत्येक मार्गणा के सन्दर्भ में गुणस्थानों का विस्तृत विवरण दिया है।<sup>14</sup> आचार्य कुन्दकुन्द की यह विशेषता है कि उन्होंने नियमसार, समयसार आदि में मगगणा-ठाण गुणठाण और जीवठाण का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है।<sup>15</sup> इस प्रकार जो जीवठाण या जीवसमास शब्द क्रमशः समवायांग एवं षट्खण्डागम तक गुणस्थान के लिए प्रयुक्त होता था, वह अब जीव की त्रिभिन्न योनियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगा। कुन्दकुन्द के ग्रंथों में जीवस्थान (जीवठाण) का तात्पर्य जीवों के जन्म ग्रहण करने की विविध योनियों से है। इसका एक फलितार्थ यह है कि भगवती आराधना, मूलाचार तथा कुन्दकुन्द के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग और स्पष्ट धारणाएं बन चुकी थीं और दोनों के विवेच्य विषय भी अलग हो गये हैं। जीवस्थान या जीव समास का सम्बन्ध-जीवयोनियों/जीव-जातियों से और गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मविशुद्धि/कर्मविशुद्धि से माना जाने लगा था। ज्ञातव्य है कि आचारंग आदि प्राचीन ग्रंथों में गुण शब्द का प्रयोग कर्म/बन्धकत्व के रूप में हुआ है।

इस प्रकार यदि गुणस्थान सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से विचार करें तो मूलाचार, भगवती आराधना, सवार्थसिद्धि एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी ग्रंथ पांचवीं शती के पश्चात् के सिद्ध होते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में संग्रहणी से लेकर जो गुणस्थान सम्बन्धी दो गाथाएं प्रक्षिप्त की गई हैं वे भी उसमें पांचवीं-छठी शती के बाद ही कभी डाली गई होंगी क्योंकि आठवीं शती में हरिभद्र भी उन्हें संग्रहणी गाथा के रूप में ही अपनी टीका में उद्धृत करते हैं। हरिभद्र इस सम्बन्ध में स्पष्ट हैं कि ये गाथाएं निर्युक्ति की मूल गाथाएं नहीं हैं (देखें—आवश्यक निर्युक्ति टीका हरिभद्र, भाग २, पृष्ठ १०६-१०७)।

इस समस्त चर्चा से ऐसा लगता है कि लगभग पांचवीं शताब्दी के अन्त में गुण-स्थान की अवधारणा सुव्यवस्थित हुई और इसी काल में गुणस्थानों के कर्म प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा, विपाक आदि सम्बन्ध निश्चित किये गये। समवायांग में गुण-स्थान की अवधारणा को 'जीवस्थान' के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "कर्मों की विशुद्धि की मार्गणा की अपेक्षा से प्रत्युत १४ जीवस्थान प्रतिपादित किये गये हैं।" समवायांग की इस चर्चा की यदि हम तत्त्वार्थसूत्र से तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि उसमें भी कर्मनिर्जरा की अपेक्षा से १० अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। 'कम्मविसोहि सम्गणं' (समवायांग-समवाय १४) और 'असंख्येय गुण निर्जरा' (तत्त्वार्थ-सूत्र ६।४७) शब्द तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।<sup>१९</sup> इसी प्रकार समवायांग में 'सुहुं सम्पराय' के पश्चात् उवसामए वा खवए वा का प्रयोग तत्त्वार्थ के उपशमक, उपशान्त और क्षपक शब्दों को स्मृतिपटल पर उजागर कर देता है। इससे यह भी फलित है कि समवायांग के काल तक श्रेणी विचार आ गया था। उपशमक, उपशान्त और क्षपक शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ कसायपाहुड में व्यवहृत सम्यक्, मिश्र, असम्यक् एवं संयत, संयतासंयत (मिश्र) और असंयत शब्दों के प्रयोग हमें यह स्पष्ट कर देते हैं कि कसायपाहुडसुत्त और तत्त्वार्थ सूत्र की कर्मविशुद्धि की अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान सिद्धान्त को विकसित किया गया है।

### तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-सिद्धान्त के बीज

तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान सिद्धान्त के बीज उसके नवें अध्याय में मिलते हैं। नवें अध्याय में सर्वप्रथम परिषहों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विकास की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है कि "बादर-सम्पराय की स्थिति में २२ परिषह सम्भव होते हैं। सूक्ष्म सम्पराय और छद्मस्थ वीतराग (क्षीणमोह) में १४ परिषह सम्भव होते हैं। जिन भगवान् में ११ परिषह सम्भव होते हैं।"<sup>२०</sup> इस प्रकार यहां बादर-सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, छद्मस्थ वीतराग और जिन—इन चार अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।

पुनः ध्यान के प्रसंग में यह बताया गया है कि "अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत्—इन तीन अवस्थाओं में आर्त्तध्यान का सद्भाव होता है। अविरत और देशविरत में रौद्रध्यान की उपस्थिति पायी जाती है। अप्रमत्तसंयत् को धर्मध्यान होता है। साथ ही यह उपशांत कषाय एवं क्षीण कषाय को भी होता है। शुक्लध्यान, उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और केवली में सम्भव होता है।"<sup>२१</sup> इस प्रकार यहां अविरत, देशविरत, प्रमत्त संयत्, अप्रमत्त संयत्, उपशान्तकषाय (उपशान्त मोह), क्षीणकषाय (क्षीण मोह) और केवली ऐसी सात अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है, पुनः कर्म निर्जरा (कर्म विशुद्धि) के प्रसंग में सम्यक्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, (चरित्रमोह) उपशमक, उपशांत (चरित्र) मोह, (चरित्र मोह) क्षपक, क्षीण मोह और जिन ऐसी दस क्रमशः विकासमान स्थितियों का चित्रण हुआ है।<sup>२२</sup> यदि हम अनन्त वियोजक को अप्रमत्त-संयत्, दर्शन मोह क्षपक को अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर सम्पराय) और उपशमक

(चरित्र मोह-उपशमक) को अनिवृत्तिकरण और क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय मानें तो इस स्थिति में यहां दसगुणस्थानों के नाम प्रकारान्तर से मिल जाते हैं। यद्यपि अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशांत-मोह तथा क्षपक आदि अवस्थाओं को उनके मूल भावों की दृष्टि से तो आध्यात्मिक विकास की इस अवधारणा से जोड़ा जा सकता है, किन्तु उन्हें सीधा-साधा गुणस्थान के चौखटे में समाहित करना कठिन है। क्योंकि गुणस्थान सिद्धान्त में तो चौथे गुणस्थान में ही अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षयोपशम होता है। पुनः उपक्षम श्रेणी से विकास करने वाला तो सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम ही करता है, क्षय नहीं। अतः अनन्तवियोजक का अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय मानने से उपशम श्रेणी की दृष्टि से बाधा आती है। सम्यक्-दृष्टि, श्रावक एवं विरति के पश्चात् अनन्तवियोजक का क्रम आचार्य ने किस दृष्टि से रखा, यह भी स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से दर्शनमोह क्षपक को अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के साथ योजित किया जाना चाहिए। क्षपक श्रेणी से विचार करने पर यह बात किसी सीमा तक समझ में आ जाती है, क्योंकि आठवें गुणस्थान से ही क्षपक श्रेणी प्रारम्भ होती है और आठवें गुणस्थान के पूर्व दर्शनमोह का पूर्ण क्षय मानना आवश्यक है। इसी प्रकार चरित्रमोह की दृष्टि से अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर संपराय) को चरित्रमोह उपशमक कहा जा सकता है। क्षपक को सूक्ष्म संपराय से भी योजित किया जा सकता है किन्तु उमास्वाति ने उपशान्त मोह और क्षीण मोह के बीच जो क्षपक की स्थिति रखी है उसका युक्ति संगत समीकरण कर पाना कठिन है। क्योंकि ऐसी स्थिति में उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें और क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थान के बीच ही उसे रखा जा सकता है, किन्तु गुणस्थान सिद्धान्त में ऐसी बीच की कोई अवस्था नहीं है। सम्भवतः उमास्वाति दर्शनमोह और चरित्रमोह दोनों का प्रथम उपशम और फिर क्षय मानते होंगे। क्षीणमोह और जिन दोनों अवधारणाओं में समान हैं। सयोगी केवली को 'जिन' कहा जा सकता है। इस प्रकार क्वचित् मतभेदों के साथ दस अवस्थाएं तो मिल जाती हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली की यहां कोई चर्चा नहीं है। उपशम और क्षपक श्रेणी की अलग-अलग कोई चर्चा भी यहां नहीं है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए निम्न तालिका उपयोगी होगी—

### आध्यात्मिक विशुद्धि का क्रम

क्रम संख्या	उमास्वाति के अनुसार			गुणस्थान सिद्धान्त के अनुसार
	परिषहों के सन्दर्भ में	ध्यान के सन्दर्भ में	कर्म निर्जरा के संदर्भ में	
१.				मिथ्यादृष्टि
२.				सास्वादन
३.				सम्यक् मिथ्यादृष्टि
२०				तुलसी प्रज्ञा

४.		अवतरित (सम्यक्दृष्टि)	सम्यक्दृष्टि (दर्शन मोह उपशमक)	सम्यक्दृष्टि (अवतरित दृष्टि)
५.		देश विरत	श्रावक	देश विरत
६.		प्रमत्तसंयत	विरत	सर्व विरत (प्रमत्तसंयत)
७.		अप्रमत्तसंयत	अनन्तवियोजक (उपशान्त दर्शनमोह)	अप्रमत्त संयत
८.	बादर सम्पराय		दर्शनमोहक्षपक	अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर सम्पराय
९.			उपशमक (चरित्रमोह)	अनिवृत्तिकरण
१०.	सूक्ष्म सम्पराय	—	—	सूक्ष्म सम्पराय
११.		उपशांत कषाय	उपशान्त मोह क्षपक	उपशान्तमोह
१२.	छद्मस्थ वीतराग	क्षीण कषाय	क्षीण-मोह	क्षीण मोह
१३.	जिन	केवली (जिन)	जिन	सयोगी केवली
१४.	—	—	—	अयोगी केवली

तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास का जो क्रम है, उसकी गुणस्थान सिद्धान्त से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ गुणस्थान सिद्धान्त में आठवें गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से आरोहण की विभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी यह माना है कि उपशम श्रेणी वाला क्रमशः ८वें, ९वें एवं १०वें गुणस्थान से होकर ११वें गुणस्थान में जाता है—जबकि क्षपक श्रेणी वाला क्रमशः ८वें, ९वें एवं १०वें गुणस्थान से सीधा १२वें गुण स्थान में जाता है। जबकि उमास्वाति यह मानते प्रतीत होते हैं कि चाहे दर्शनमोह के उपशम और क्षय का प्रश्न हो या चारित्रमोह के उपशम या क्षय का प्रश्न हो—पहले उपशम होता है और फिर क्षय होता है। दर्शन मोह के समान चारित्र मोह का भी क्रमशः उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय होता है। उन्होंने उपशम और क्षय को मानते हुए उनकी अलग-अलग श्रेणी का विचार नहीं किया है। उमास्वाति की कर्म-विशुद्धि की दस अवस्थाओं में प्रथम पांच का सम्बन्ध दर्शन मोह के उपशम और क्षपण से है तथा अन्तिम पांच का सम्बन्ध चारित्र मोह के उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय से है। प्रथम भूमिका में सम्यक् दृष्टि उपशम से सम्यक् दर्शन प्राप्त करता है—ऐसे उपशम सम्यक् दृष्टि का क्रमशः २ श्रावक और ३ विरत के रूप में चारित्रिक विकास तो होता है किन्तु उसका सम्यक् दर्शन औपशामिक होता है अतः वह उपशान्त दर्शन

मोह होता है। ऐसा साधक चौथी अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षपण (वियोजन) करता है अतः वह क्षपक होता है, इस पांचवीं स्थिति के अन्त में दर्शनमोह का क्षय हो जाता है। छठी अवस्था में चारित्र्य मोह का उपशम होता है अतः वह उपशमक (चारित्र्य-मोह) कहा जाता है, सातवीं अवस्था में चारित्र्यमोह उपशान्त होता है। आठवीं में उस उपशान्त चारित्र्य मोह का क्षपण किया जाता है अतः वह क्षपक होता है। नवीं अवस्था में चारित्र्य मोह क्षीण हो जाता है, अतः क्षीण-मोह कहा जाता है और दसवीं अवस्था में 'जिन' अवस्था प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपास्वाति के समक्ष कर्मों के उपशम और क्षय की अवधारणा तो उपस्थिति रही होगी, किन्तु चारित्र्यमोह की विशुद्धि के प्रसंग में उपशम श्रेणी और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण की अवधारणा विकसित नहीं हो पाई होगी। इसी प्रकार उपशम श्रेणी से किये गये आध्यात्मिक विकास से पुनः पतन के बीच की अवस्थाओं की कल्पना भी नहीं रही होगी।

जब हम उपास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से कसायपाहुड की ओर आते हैं तो दर्शन मोह की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र-मोह) और सम्यक् दृष्टि तथा चरित्रमोह की अपेक्षा से अविरत, विरताविरत और विरत की अवधारणाओं के साथ उपशम और क्षय की अवधारणाओं की उपस्थिति भी पाते हैं।<sup>१३</sup> इस प्रकार कसायपाहुड में सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि की अवधारणा अधिक पाते हैं। इसी क्रम में आगे मिथ्या-दृष्टि, सास्वादन और अयोगी केवली की अवधारणाएँ जुड़ी होंगी और उपशम एवं क्षपक श्रेणी के विचार के साथ गुणस्थान का एक सुव्यवस्थित सिद्धांत सामने आया होगा।

इन तथ्यों को निम्न तुलनात्मक तालिका से समझा जा सकता है—

### गुणस्थान की अवधारणा का क्रमिक विकास (१)

#### १. तत्त्वार्थ एवं तत्त्वार्थभाष्य

(३री—४थी शती)

गुणस्थान, जीवसमास, जीवस्थान  
आदि शब्दों का पूर्ण अभाव

कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का चित्रण, मिथ्यात्य का अन्तर्भाव करने पर ११ अवस्थाओं का उल्लेख सास्वादन, सम्यक्, मिथ्या दृष्टि और अयोगी केवली दशा का पूर्ण अभाव

#### २. कसायपाहुडसुत्र

(३री—४थी शती)

गुणस्थान, जीवस्थान, जीवसमास,  
आदि शब्दों का अभाव, किन्तु  
मार्गणा शब्द पाया जाता है।

कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि का उल्लेख करने पर कुल ११ अवस्थाओं का उल्लेख

सास्वादन (सासादन) और अयोगी केवली अवस्था का पूर्ण अभाव, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि की उपस्थिति

अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण (निवृत्ति-  
बादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्ति-  
बादर) जैसे नामों का अभाव  
उपशम और क्षय का विचार है  
किन्तु ढवें गुणस्थान से उपशम  
और क्षायिक श्रेणी से अलग-  
अलग आरोहण होता है ऐसा  
विचार नहीं है

पतन की अवस्था का कोई चित्रण  
नहीं

१. मिथ्यात्व
२. —
३. —
४. सम्यक्दृष्टि
५. श्रावक
६. विरत
७. अनन्तविद्योजक
८. दर्शनमोह क्षपक
९. (चारित्रमोह) उपशमक
१०. —
११. उपशान्त (चारित्र) मोह  
(चारित्रमोह) क्षपक
१२. क्षीणमोह
१३. जिन
१४. —

अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण (निवृत्ति  
बादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्ति-  
बादर) जैसे नामों का अभाव  
उपशम और क्षपक का विचार  
है किन्तु ढवें गुणस्थान से  
उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी  
से अलग-अलग आरोहण होता  
है। ऐसा विचार नहीं है।

पतन की अवस्था का कोई चित्रण  
नहीं

मिच्छादिदृष्टि (मिथ्यादृष्टि)

—

सम्मा-मिच्छादृष्टि  
(मिस्सगं)

सम्मादृष्टि (सम्यक्दृष्टि)

अविरदीए

विरदाविरदे (विरत-अविरत)

देसविरयी (सागार) संजमासं.

विरद (संजम)

दंसणमोह उवसामगे

(दर्शन मोह-उपशामक)

दंसणमोह खवगे

(दर्शन मोह-क्षपक)

चरित्तमोहस्स उपसामगे

(उवसामणा)

सुहुमरागी

(सुहुमग्ग्हि सम्पराये)

उवसत कसाय

खवगे

खीणमोह (छट्टुमत्थोवेदगो)

जिण केवली सव्वण्हू-सव्वदरिसी

(ज्ञातव्य है कि चूणि में

'सजोगिजिणो' शब्द है मूल में नहीं

है)

चूणि में योगनिरोध का

उल्लेख है

## गुणस्थान की अवधारणा का क्रामिक विकास (२)।

३. समवायांग/षट्खण्डागम

(३वीं शती)

गुणस्थान शब्द का अभाव  
किन्तु जीवठाण या जीव-  
समास के नाम से १४ अवस्थाओं  
का चित्रण

१४ अवस्थाओं का उल्लेख है  
सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि  
(मिश्रदृष्टि) और अयोगी  
केवली आदि का उल्लेख है ।  
अलग-अलग श्रेणी विचार  
उपस्थित

पतन आदि का मूल पाठ  
में चित्रण नहीं है  
मिच्छादिट्टि (मिथ्यादृष्टि)  
सास्वादन सम्यक्दृष्टि  
(सासायण—सम्मादिट्टी)  
सम्मा-मिच्छादिट्टी  
(सम्यक्-मिथ्यादृष्टि)  
अविरय सम्मादिट्टी  
विरयारिए (विरत-अविरत)

पमत्तसंजए  
अपत्तसंजए  
निअट्टिबायरे  
अनिअट्टिबायरे  
सुहुम संपराए  
उवसंत मोहे

—  
खीणमोहे  
सजोगी केवली

४. श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थ की  
टीकाएं एवं भगवती आराधना,  
मूलाचार, समयसार, नियमसार  
आदि

(६ठी शती या उसके पश्चात्)

गुणस्थान शब्द की स्पष्ट  
उपस्थिति

१४ अवस्थाओं का उल्लेख है ।  
उल्लेख है ।

अलग-अलग श्रेणी विचार  
उपस्थित

पतन आदि का व्याख्या  
में चित्रण है  
मिथ्यादृष्टि  
सास्वादन

सम्यक्-मिथ्यादृष्टि  
(मिश्रदृष्टि)  
सम्यक्दृष्टि

—  
प्रमत्तसंयत  
अप्रमत्तसंयत  
अपूर्वकरण  
अनिवृत्तिकरण  
सूक्ष्मसम्पराय  
उपशान्त-मोह

—  
क्षीणमोह  
सयोगीकेवली



इस तुलनात्मक विवरण से हम पाते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के समान ही कसायपाहुड-सुत्त में न तो गुणस्थान शब्द ही है और न गुणस्थान सम्बन्धी १४ अवस्थाओं का सुव्यवस्थित विवरण ही है, किन्तु दोनों में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कसायपाहुड में गुणस्थान से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द हैं—मिथ्यादृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि/मिश्र, अविरत/सम्यक्दृष्टि, देशविरत/विरता-विरत, संयमासंयम, विरत/संयत, उपशांतकषाय, क्षीणमोह—तुलना की दृष्टि से तत्त्वार्थ-सूत्र में सम्यक् मिथ्यादृष्टि की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि कसायपाहुडसुत्त में इस पर विस्तृत चर्चा उपलब्ध है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की 'अनन्तविद्योजक' की अवधारणा कसायपाहुड में उपलब्ध नहीं है—उसके स्थान पर उसमें दर्शनमोह उपशमक की अवधारणा पायी जाती है। तत्त्वार्थसूत्र की उपशमक, उपशांत, क्षपक और क्षीणमोह की अवधारणायें स्पष्ट रूप से कसायपाहुडसुत्त में चारित्रमोह उपशमक, उपशांत कषाय और चारित्रमोह क्षपक तथा क्षीणमोह के रूप में यथावत् पायी जाती हैं। यहां 'चारित्र-मोह' शब्द का स्पष्ट प्रयोग इन्हें तत्त्वार्थ की अपेक्षा अधिक स्पष्ट बना देता है। पुनः कसायपाहुडसुत्त मूल में भी तत्त्वार्थसूत्र के समान ही प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्व-करण, अनिवृत्तिकरण—ये चारों नाम अनुपस्थित हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा इसमें सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र मिसग) और सूक्ष्म-सम्पराय (सुहुमराग/सुहुमसंपराय) ये दो विशेष रूप से उपलब्ध होते हैं। पुनः उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच दोनों ने क्षपक (खवग) की उपस्थिति मानी है, किन्तु गुणस्थान-सिद्धान्त में ऐसी कोई अवस्था नहीं है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कसायपाहुड और तत्त्वार्थसूत्र में कर्म-विशुद्धि की अवस्थाओं के प्रश्न पर बहुत अधिक समानता है—मात्र मिश्र और सूक्ष्म-सम्पराय की उपस्थिति के आधार पर उसे तत्त्वार्थ की अपेक्षा किञ्चित् विकसित माना जा सकता है। दोनों की शब्दावली, क्रम और नामों की एकरूपता से यही प्रतिफलित होता है कि दोनों एक ही काल की रचनायें हैं।

मुझे लगता है कि कषायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य के काल में आध्यात्मिक-विशुद्धि या कर्म-विशुद्धि का जो क्रम निर्धारित हो चुका था, वही आगे चलकर गुणस्थान-सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व में आया। यदि कसायपाहुड और तत्त्वार्थ चौथी शती या उसके पूर्व की रचनायें हैं तो हमें यह मानना होगा कि गुणस्थान की, सुव्यवस्थित अवधारणा चौथी और पांचवीं शती के बीच ही कभी निमित्त हुई है, क्योंकि लगभग छठी शती से सभी जैन विचारक गुणस्थान-सिद्धान्त की चर्चा करते प्रतीत होते हैं, इसका एक फलितार्थ यह भी है कि जो कृतियां गुणस्थान की चर्चा करती हैं, वे सभी लगभग पांचवीं शती के पश्चात् की हैं। यह बात भिन्न है कि तत्त्वार्थसूत्र और कसायपाहुड को प्रथम-द्वितीय शताब्दी का मानकर इन ग्रन्थों का काल तीसरी-चौथी शती माना जा सकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि षट्खण्डागम, भगवती आराधना एवं मूलाचार के कर्ता तथा आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति से परवर्ती ही हैं, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती इन जैन चिन्तकों, माध्यमिकों एवं प्राचीन वेदान्तियों—विशेषरूप से गौड़पाद् के विचारों का लाभ

उठाकर जैन अध्यात्म को एक नई ऊंचाई पर पहुंचाया। मात्र यही नहीं उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि अवधारणाओं से पूर्णतया अवगत होकर भी शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा के सम्बन्ध में इन अवधारणाओं का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। यह प्रतिषेध तभी सम्भव था, जब उनके सामने ये अवधारणायें सुस्थिर होतीं।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आध्यात्मिक विकास के इन विभिन्न वर्गों की संख्या के निर्धारण में उमास्वाति पर बौद्ध-परम्परा और योग-परम्परा का भी प्रभाव हो सकता है। मुझे ऐसा लगता है कि उमास्वाति ने आध्यात्मिक विशुद्धि की चतुर्विध, सप्तविध और दसविध वर्गीकरण की यह शैली सम्भवतः बौद्ध और योग परम्पराओं से ग्रहण की होगी। स्थविरवादी बौद्धों में सोतापन्न, सक्कदागामी, अनागामी और अर्हत् ऐसी जिन चार अवस्थाओं का वर्णन है वे परिषद् के प्रसंग में उमास्वाति की बादर-सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, छद्मस्थवीतराग और जिनसे तुलनीय मानी जा सकती हैं। योगवाशिष्ठ में आध्यात्मिक विकास की ज्ञान की दृष्टि से जिन सात अवस्थाओं का उल्लेख है उन्हें ध्यान के सन्दर्भ में प्रतिपादित तत्त्वार्थसूत्र की सात अवस्थाओं से तुलनीय माना जा सकता है। इसी प्रकार महायान सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की जिन दस अवस्थाओं का चित्रण है, उन्हें निर्जरा की चर्चा के प्रसंग से उमास्वाति द्वारा प्रतिपादित दस अवस्थाओं से तुलनीय माना जा सकता है।<sup>१३</sup> इसी प्रकार आजीविकों द्वारा प्रस्तुत आठ अवस्थाओं से भी इनकी तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस तुलनात्मक अध्ययन के सम्बन्ध में अभी गहन चिन्तन की अपेक्षा है, इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा अगले किसी लेख में करेंगे।

**सन्दर्भ :**

१. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउछस जीवट्टाण पण्णत्ता, तं जहा—मिच्छादिट्ठी; सासायणसम्मदिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, अविरयसम्मदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्त-संजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्ठिवायरे, अनिअट्ठिवायरे, सुहुमसंपराएउवसामए वा खवए वा, उवसंतमोहे, रवीणमोहे, सजोगीकेवली, अयोगी केवली।

—समवायांग (सम्पा० मधुकर मुनि), १४/६५

२. मिच्छादिट्ठी सासायणे य तह सम्मामिच्छादिट्ठी य।  
अविरयसम्मदिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य॥  
तत्तो य अप्पमत्तो नियट्ठिअनियट्ठिवायरे सुहुमे।  
उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य॥

—निर्युक्ति संग्रह (आवश्यकनिर्युक्ति), पृ० १४६

३. चोइसहि भूयगामेहि.....वीसाए असमाहिठाणेहि॥

—आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र) भाग २, प्रका० श्री भेरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं० २५०८; पृष्ठ १०६-१०७

४. तत्थ इमाति चोद्स गुणट्टाणाणि .....अजोगिकेवली नाम सलेसीपडिवन्नाओ, सो य तीहिं जोगेहिं विरहितो जाव कखगघङ् इच्चेताइं पंचहससकखराइं उच्चरि-ज्जति एवतियं कालमजोगिकेवली भवित्तूण ताहे सव्वकम्मविणिमुक्को सिद्ध भवति ।

—आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि), उत्तर भाग, पृ० १३३-१३६, रत्तलाम, १९२९.

५. एदेसि चैव चोद्सएहं जीवसमासाण परूवणट्टदाए तत्थ इमाणि अट्टु अणियोगद्वाराणि णायव्वाणि भवंति .....मिच्छादिट्टि .....सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि ।

—षट्खण्डागम (सत्प्ररूपणा), पृ० १५४-२०१ प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (पुस्तक) द्वि० सं० सन् १९७३

६. मिच्छादिट्टी सासादणो य मिस्सो असंजदो चैव ।

देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥१५४॥

एत्तो अपुव्वकरणो आणियट्टी सुहुमसंपराओ य ।

उवसंत्खीणमोहो सजोगिकेवल्लिजिणो अजोगी य ॥१५५॥

सुरणारथेसु चत्तारि ह्वीति तिरियेसु जाण पंचेव ।

मणुसगदीएवि तहा चोद्सगुणणामछेयाणि ॥१५६॥

—मूलाचार (पर्याप्त्यधिकार), पृ० २७३-२७६; माणिकचन्द-दिगम्बर ग्रन्थमाला (२३), बम्बई, वि०सं० १९८०

७. अध खवयसेट्ठिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ।

होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म ।

णिष्ठाणिष्ठा पयलापयला तघ धीणगिद्धि च ॥२०८८॥

—भगवती आराधना, भाग २ (सम्पा० कैलाशचंद्र सिद्धान्तशास्त्री) पृ० ८६० (विशेष विवरण हेतु देखें गाथा-२०७२ से २१२६ तक)

८. सवार्थसिद्धि (पूज्यपाद देवनन्दी) सूत्र १/८ की टीका, पृ० ३०-४०, ६-१३ की टीका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५५.

९. राजवार्तिक (भट्ट अकलंक) ६/१०/११/पृ० ५८८.

१०. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकम् (विद्यानन्दी), निर्णयसागर प्रेस सन् १९१८. देखें—गुणस्थानापेक्ष .....। १०/३: ..... गुणस्थानभेदेन ..... ६/३६/४, पृ० ५०३, .....अपूर्वकरणादीनां .....। ६/३७/२; विशेष विवरण हेतु देखें— ६/३४-४४ तक की सम्पूर्ण व्याख्या ।

११. आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि), उत्तर भाग, पृ० १३३-१३६ ।

१२. एतस्य त्रयः स्वामिनश्चतुर्थ-पञ्चम षष्ठ गुणस्थानवर्तिनः .....। तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र (सिद्धसेन गणिकृत भाष्यानुसारिणिका समलंकृतं—सं० हीरालाल रसिकलाल कापडिया) ६/३५ की टीका ।

१३. श्रीतत्त्वार्थसूत्रम् [टीका—हरिभद्र], ऋषभदेव केशरीमल संस्था सं० १९६२, पृ० ४६५-४६६.

१४. सम्यग्दृष्टिश्रावक विरतान्ततवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोह-  
क्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशो संख्येयगुणनिर्जराः ६/४७.

—तत्त्वार्थसूत्र, नवम् अध्याय, पृ० १३६; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध  
संस्थान, वाराणसी १९८५.

१५. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५२४—५२६।

१६. देखें—

(अ) जैन साहित्य का इतिहास द्वितीय भाग, (पं० कैलाशचंद्रजी) चतुर्थ अध्याय  
पृ० २९४-२९६।

(ब) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (पं० जुगलकिशोरजी  
मुख्तार), पृ० सं० १२५—१४६।

(स) तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-२, (डॉ. नेमीचन्द्रजी)

(द) सर्वार्थसिद्धि—भूमिका, पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताशास्त्री, पृ० ३१—४६।

१७. देखें—सर्वार्थसिद्धि, सं०—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्ताशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ  
(१९५५ १/८; पृ० ३१-३३, ३४, ४६, ५५-५६, ६५-६७, ८४-८५, ८८।

१८. (अ) णाहं मगगणाठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।

कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥

—नियमसार गाथा ७७, प्रकाशक—पंडित अजित प्रसाद,

दि सेन्द्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ १९३१।

(ब) णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।

जेण ट्ठ एदे सव्वे पुग्गलदब्बस्स परिणामा ॥

—समयसार, गा० ५५, प्रका०—श्री म० ही० पाटनी दि० जैन पार०

ट्रस्ट मारोठ (मारवाड़) १९५३।

१९. सूक्ष्मसम्परायच्छवस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

एकादश जिने ॥११॥

बादरसम्पराये सर्वे ॥१२॥

—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६, विवेचक पं० सुखलालजी

२०. तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३५॥

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३६॥

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥३७॥

उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥३८॥

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३९॥

परे केवलिनः ॥४०॥

—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६

२१. सम्यग्दृष्टिश्चावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-  
मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः

क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४७॥

— तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९

२२. कसायपाहुडसुत्त सं० पं० हीरालाल जैन—वीरशासन संघ, कलकत्ता १९५८ ।  
देखें—

सम्मत्तदेसविरयी संजम उवसामणाचखवणा च ।

दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥

सम्मत्ते मिच्छत्ते य मिस्सगे चेव बोद्धव्वा ॥८२॥

विरदीय अविरदीए विरदाविरदे तहा अणगारे ॥८३॥

दंसणमोहस्स उवसामगस्स परिणामोकेरिसो भवेः ॥९१॥

दंसणमोहकखवणा पट्टवगो कम्मभूमि जादो तु ॥११०॥

सुहुमे च सम्पराए बादररागे च बोद्धव्वा ॥१२१॥

उवसामणा खएण दु पडिवदि दो होइ सुहुम रागम्मि ॥१२२॥

खीणेषु कसाएसु य सेसाण के व होति विचारा ॥१३२॥

संकामणयोवट्टण किट्ठी खवणाए खीण मोहंते ।

खवणा य आण्पुव्वी बोद्धव्वा मोहणीयस्स ॥२३३॥

२३. विस्तृत विवरण हेतु देखें—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलना-  
त्मक अध्ययन भाग २; डॉ० सागरमल जैन, प्राकृत भारती, जयपुर, पृ० ४७१-  
४७८ एवं पृ० ४८७-४८८ ।



चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे, विवेकस्तद्विवेचनम्,

उपादेयमुपादेयं, हेयं हेयं च सर्वतः ।

हेयं तु कर्तृरामादि, तत्कार्यमविवेकिनः,

उपादेयं परं ज्योतिरूपयोर्गैक लक्षणम् ॥

— पद्मनन्दि

## उत्तराध्ययन के दो संदर्भ

१. करकंडू कलिगोसु पंचालेसु य दुम्मुहो ।  
 नमी राया विदेहेसु गंधारेसु य नरगई ॥४५॥  
 एए नरिदवसभा निक्खंता जिणसासणे ।  
 पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं सामणणे पज्जुवड्डिया ॥४६॥  
 सोवीररायवसभो 'चेच्चा रज्जं' मुणी चरे ।  
 उद्दायणो पट्ठवइओ पत्तो गइमणुत्तरं ॥४६॥  
 —अद्वारसमं अज्झयणं (संजइज्जं)

२. चंपाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए ।  
 महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो ॥१॥  
 निव्वंथे पावयणे सावए से विकीविए ।  
 पोएण ववहरंतो पिहुंडं नगरमागए ॥२॥  
 पिहुंडे ववहरंतस्स वाणिओ देइ घूयरं ।  
 तं ससत्तं पइमिज्झ सदेसमह पत्थिओ ॥३॥  
 अह पालियस्स धरणी समुद्दंमि पसवई ।  
 अह 'दारए तहिं' जाए समुद्दपालि ति नामए ॥४॥  
 —एगविसइमं अज्झयणं (समुद्दपालीय)

उक्त दोनों प्रसंग कलिग और कलिग के बन्दरगाह पिहुंडनगर का उल्लेख करते हैं। प्रसंग क्रमांक—१ में बताया गया है कि जब कलिग में करकंडू का शासन था तो पांचाल में दुर्मुख, विदेह में निमि और गांधार में नग्नजित् शासक थे और इन चारों राज्यों में जिनशासन था। ऐतरेय ब्राह्मण (७.३४) के हवाले से यह संदर्भ महाभारत पूर्व का माना जा सकता है।

दूसरा प्रसंग पिहुंड नगर में भगवान् महावीर के भ्रमण का वृत्तान्त देता है। यह प्रसंग आवश्यक सूत्र के विवरण अनुसार—भगवान् महावीर के तोसली और मोसली जाने से तुलनीय है। प्रो० के०सी० जैन के अनुसार तोसली-मोसली जाने पूर्व भगवान् महावीर बलूयगाम, सुभोम, सुचेत्ता, मलय और हथिसिस स्थानों पर गये जहाँ उन्हें शारीरिक यातनाएं भी सहनी पड़ी।

ये सभी स्थान कोशल (कलिग के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र) में स्थित रहे हो सकते हैं। वर्तमान सोनपुर (बलंगिर जिला) और मलयगिरि (पल्लहर के पास) दो स्थल क्रमशः सुभोम और मलय से पहचाने जा सकते हैं। 'हथीसिस' राजा खारवेल की पट्टराणी ललाक का पीहर हो सकता है जो बहुत बाद में जैन धर्म बना होगा।

—परमेश्वर सोलंकी

## जैन एवं जैनेतर राजनीति में दूत

□ डॉ० सुनीता कुमारी

प्राचीनकाल में भी आधुनिक काल की ही भांति एक राजा के संदेश दूसरे राजा के पास दूत के माध्यम से प्रेषित किए जाते थे। इन संदेशवाहकों को राजदूत, दूत बचोहर, वचनहर आदि विभिन्न नामों से जाना जाता था। राजा के संदेशों का संप्रेषण दूत की योग्यता पर निर्भर करता था, क्योंकि राजा अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के संदेश इनके माध्यम से भेजा करता था। राजदूतों के आचरण एवं व्यवहार को संबंधित राष्ट्र की मर्यादा का द्योतक माना जाता था। दूत ही परराष्ट्र में स्व-राष्ट्र का प्रतिनिधि माना जाता था। राजदूतों के आचरण के कारण कभी राष्ट्र को अत्यधिक सम्मान मिलता था तो कभी-कभी अपमान का कड़वा घंट भी।<sup>1</sup>

दूत को राजाओं के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित कराने का मुख्य साधन बताया गया है। आचार्य जिनसेन के अनुसार एक राजा दूसरे के पास संदेश भेजने के लिए साम दाम आदि नीतिपूर्वक दूत भेजता था।<sup>2</sup> प्रत्युत्तर के रूप में भी एक राजा दूसरे राजा के पास दूत भेजा करता था। जैसे भरत के प्रति अपनी अनुकूलता प्रकट करने के लिए बाहुबलि ने "मैं आपके अधीन नहीं हूँ" यह कहने के लिए दूत भेजे थे।<sup>3</sup>

आचार्य कौटिल्य दूत को राजा का मुख मानते हैं।<sup>4</sup> उनका कहना है कि अपने राज्य में राजा जिस प्रकार की व्यवस्था और नीति निर्धारित करता है, दूसरे राज्य में वही कार्य राजदूत का होता है। पर राष्ट्र संबंधी कार्यों में वह राजा का प्रतिनिधि होता है। 'आदिपुराण' में दूत के संबंध में जो बात कही गई है वह कौटिल्य के मंतव्य को स्पष्ट करती है। उक्त ग्रन्थ में कहा गया है कि दूत जब दूसरी जगह जाता है तो वहाँ सदा अपने स्वामी के अभिप्राय के अनुसार चलता है तथा वह अपने स्वामी के गुण और दोषों पर विचार नहीं करता है।<sup>5</sup> दूत प्रारम्भ में साम, दाम आदि के वचन ही कहता था, और विरोधी राजा को अशान्त जानकर लौट आता था व सब समाचार अपने स्वामी से कहता था।<sup>6</sup> दूसरे राजा को अनुकूल करने के लिए चित्त का हरण करने वाले तथा दूसरे के साथ विग्रह करने के लिए कलहप्रिय तथा दुर्वचन बोलने वाले दूत भी भेजे जाते थे।<sup>7</sup>

दूत का पद अत्यंत महत्त्व का था। राजदूतों की योग्यता के संबंध में विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं। 'मनुस्मृति' में कहा गया है "सभी शास्त्रों का विद्वान्, इंगित, आकार एवं चेष्टा को जानने वाला, शुद्ध हृदय, चतुर तथा कुलीन व्यक्ति को दूत नियुक्त करना चाहिए।<sup>8</sup> आचार्य कामंदक के अनुसार दूत को प्रगल्भ, स्मृतिवान्, वाग्मी, शास्त्र और शस्त्र में निपुण तथा अभ्यस्तकर्मी होना चाहिए।<sup>9</sup> तात्पर्य

यह है कि जिस व्यक्ति में ये सभी गुण पाए जाते हैं वह दूत पद के लिए योग्य है तथा राजा को ऐसे व्यक्ति को दूत बनाना चाहिए ।

‘पउमचरियं’ में दूत के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है “इसे शास्त्रज्ञान में निपुण, राजकर्तव्य में कुशल, लोक व्यवहार का ज्ञाता, गुणों में स्नेहशील, संकेत के अनुसार अभिप्राय को जानने वाला तथा स्वामी के कार्य में अनुरक्त, बुद्धि वाला होना चाहिए ।” आचार्य शुक्र का मानना है कि दूत को इंगित आकार का ज्ञाता, स्मृतिवान्, देश-काल का ज्ञाता, षाड्गुण्य नीति का पंडित, वाग्मी और निर्भीक होना चाहिए ।<sup>11</sup> अगर दूत इन सब गुणों ने युक्त नहीं होगा तो वह अपने कर्तव्य का पालन ठीक से नहीं कर पाएगा । निर्भीक नहीं होने पर वह शत्रु राजा के समक्ष अपने स्वामी की कटु बातों को नहीं कह पाएगा । अगर वह संकेत के अभिप्राय को नहीं समझने वाला होगा तब उसे कई तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है । क्योंकि कभी-कभी राजा भी संकेत के माध्यम से ही अपनी बातों का अभिप्राय भेज सकता है ।

प्राचीन आचार्यों ने योग्यता एवं क्रम की दृष्टि से निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर तीन प्रकार के दूत बताये हैं—

**निसृष्टार्थ**—स्वामी के कान के पास रहने वाला, रहस्य की रक्षा करने वाला सुयोजित पत्र लेकर जल्दी जानेवाला, मार्ग में सीधे जाने वाला, शत्रुओं के हृदय में प्रवेश कर कठिन से कठिन कार्य को सिद्ध करने वाला तथा विवेक बुद्धि वाला दूत निसृष्टार्थ कहलाता था ।<sup>12</sup> आचार्य सोमदेव के अनुसार जिसके द्वारा निश्चित किए हुए सन्धि-विग्रह को उसका स्वामी प्रमाण मानता है, वह निसृष्टार्थ है । उदाहरण स्वरूप कृष्ण पांडवों के निसृष्टार्थ दूत थे ।<sup>13</sup>

**आचार्य कौटिल्य** निसृष्टार्थ दूत को आमात्यों के समान ही मानते थे, क्योंकि वे स्पष्ट रूप से कहते थे कि जिन योग्यताओं को अमात्यपद के लिए निर्धारित किया गया है, उन्हीं योग्यताओं से युक्त दूत निसृष्टार्थ कहलाता है ।<sup>14</sup> ये दूत अपने स्वामी का संदेश विदेशी राजा तक ले जाते थे तथा प्रत्युत्तर में उस राजा का संदेश अपने राजा तक पहुंचाते थे । इसके अतिरिक्त इन्हें अपनी तरफ से भी बातचीत करने का अधिकार प्राप्त था । आधुनिक समय के राजदूत निसृष्टार्थ दूत के ही स्तर के माने जा सकते हैं ।

**परिमितार्थ**—परिमित समाचार सुनाने वाला<sup>15</sup> अथवा राजा द्वारा भेजे हुए संदेश और लेख को जैसे का तैसा शत्रु से कहने वाला दूत परिमितार्थ कहलाता है । आचार्य कौटिल्य इसे निसृष्टार्थ दूत से निम्न श्रेणी का मानते हैं । वे कहते हैं कि इस पद पर जसी व्यक्ति की नियुक्ति की जानी चाहिए जिसमें अमात्यपद के लिए निर्धारित योग्यता का तीन चौथाई भाग ही पाया जाता हो ।<sup>16</sup>

**शासनहर**—उपहार के भीतर रखे हुए पत्र को ले जाने वाला दूत शासनहर कहलाता है ।<sup>17</sup> उपर्युक्त दोनों दूतों से इसकी स्थिति निम्न मानी गई है । इसका कार्य केवल अपने स्वामी के संदेश को ले जाना तथा ले आना था । स्वयं किसी प्रकार की संधि अथवा समझौता करने का उसे कोई अधिकार नहीं था ।

दूत का कार्य अत्यन्त साहसका कार्य माना गया है । स्वामी के अभिप्राय के



अनुसार उसे शत्रुपक्ष से निवेदन करना होता था । इतना होते हुए भी दूत अवध्य था । रावण के घृष्ट अभिप्राय को व्यक्त करने वाले दूत पर ज्योंही भामण्डल ने तलवार उठाई त्योंही लक्ष्मण ने उसे रोक लिया । यहां पर लक्ष्मण कहते हैं कि प्रतिध्वनियों पर, लकड़ी के बने पुरुषाकार पुतलों पर, सुधा आदि तिर्यंचों पर, यंत्र से चलने वाली पुरुषाकार पुतलियों पर सत्पुष्यों को क्रोध कैसा ?<sup>19</sup> ऐसे ही एक स्थल पर दूत के प्रति कहा गया है—जिसने अपना शरीर बेच दिया है और तोते के समान कही बात को ही दुहराता है, ऐसे पापी, दीनहीन भृत्य का क्या अपराध है ? दूत जो बोलते हैं, पिशाच की तरह अपने हृदय में विद्यमान अपने स्वामी की प्रेरणा से ही बोलते हैं । दूत यंत्र पुरुष के समान पराधीन है ।<sup>19</sup>

राजदूत के कार्यों का निर्धारण करते हुए आचार्य कौटिल्य निम्नलिखित ग्यारह प्रकार के कार्यों का उल्लेख करते हैं ।<sup>20</sup>

प्रेषण—अपने राजा का संदेश शत्रु राजा के पास ले जाना तथा उसका उत्तर अपने राजा के पास भेजना ।

सन्धिपालत्व—पूर्वकाल में की गई सन्धियों का पालन करना ।

प्रताप—यथोचित अवसर आने पर अपने प्रताप का प्रदर्शन करना ।

मित्रसंग्रह—मित्रों का अधिकाधिक संग्रह करना ।

उपजात—शत्रु के कृत्य-पक्ष में फूट डालना ।

सुहृद् भेद—शत्रु के मित्रगणों में भेद डालना ।

गृहदण्डातिसारण—गुप्तचरों एवं सेना को प्रतिकूल करना ।

बन्धुरत्नापहरण—शत्रु राजा के बन्धुजनों तथा रत्नों का अपहरण करना ।

चरज्ञान—गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचार को ग्रहण करना ।

पराक्रम—समय आने पर अपना पराक्रम दिखाना ।

समाधिभोक्ष—(योग का आश्रय) सन्धि करके बन्दी राजकुमार आदि को छुड़ाना

तथा मारण-मोहन, उच्चाटन आदि का प्रयोग करना ।

पउमचरियं में भी दूत के कार्यों पर प्रकाश डाला गया है । इसके अनुसार दूत के निम्नलिखित कार्य हैं—<sup>21</sup>

नैतिक उपाय द्वारा शत्रु कार्य—सैनिक संगठन आदि को नष्ट करना ।

राजनैतिक उपाय के द्वारा शत्रु का अनर्थ करना—शत्रु विरोधी क्रुद्ध, लब्ध भय-भीत और अभिमानी पुरुषों को सामदामादि द्वारा वश में करना ।

शत्रु के पुत्र, कुटुम्बी व बन्दी मनुष्यों में द्रव्यदानादि द्वारा भेद उत्पन्न करना ।

शत्रु द्वारा अपने देश में भेजे हुए गुप्तचरों का ज्ञान ।

सीमाधिप, आटविक, कोश, सैन्य, मित्र की परीक्षा ।

शत्रु राजा के यहां वर्तमान कन्यारत्न तथा हाथी, घोड़े आदि वाहनों को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए ।

शत्रु प्रकृति (मंत्री, सेनाध्यक्ष) में गुप्तचरों द्वारा क्षोभ उत्पन्न करना ।

ये उपर्युक्त कार्य दूत के बताए गए हैं । कौटिल्य का मत है कि सभी कार्य राजा

को दूतों के माध्यम से कराने चाहिए और शत्रुओं के पीछे अपने प्रतिदूतों या गुप्तचरों को नियुक्त करना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रक्षकों को नियुक्ति कर उन पर दृष्टि रखनी चाहिए।<sup>१३</sup>

दूत कार्य के सम्बन्ध में मनु ने एक स्थान पर कहा है कि दूत ही सन्धि, विग्रह का कारण होता है। दूत ही मेल कराता है और मिले हुए शत्रु से विग्रह कराता है। दूत वह कार्य करता है जिससे मिले हुए मनुष्य में भी फूट पड़ जाती है।<sup>१४</sup>

दूतों के कार्य अत्यन्त जोखिम भरे होते थे। वे अपने स्वामी के कथनों को शत्रु राजा के समक्ष अक्षरशः कहते थे। संभव था कि उनकी बातों से शत्रु पक्ष को क्रोध आ जाए और राजा दूत का वध कर दे। अतएव ऐसी परिस्थितियों से बचने के लिए प्राचीन राजनीति-आचार्यों ने दूत की रक्षा के लिए कुछ विशेष नियम बनाए थे। इन नियमों का पालन प्रत्येक राजा का कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व माना जाता था।

‘नीतिवाक्यामृत’ में लिखा है कि उठे हुए शस्त्रों के बीच (घोर युद्ध के बीच) भी राजा दूत मुख वाले होते हैं। अतः दूत के द्वारा महान् अपराध किए जाने पर भी राजा उसका वध न करें। दूतों में यदि चाण्डाल भी हो तो उनका भी वध नहीं करना चाहिए, उच्च वर्ण वाले ब्राह्मणों की तो बात ही क्या है? दूत अवध्य होता है, अतः सभी प्रकार के वचन बोलता है।<sup>१५</sup> महाभारत में भी दूत को अवध्य बताया गया है। वहाँ इस बात का उल्लेख मिलता है कि “क्षत्र धर्म में रत जो राजा गण यथार्थ वक्ता दूत का वध करते हैं, उनके पितर-गण भ्रूण हत्या के भागी बनते हैं। राजा किसी भी आपत्ति में क्यों न हो उसे दूत का वध नहीं करना चाहिए, क्योंकि दूत का प्राण-वध करने वाला राजा मंत्रियों सहित नरकगामी होता है।<sup>१६</sup>

सर्वांश में आज ही की तरह प्राचीन भारत में भी दूत-व्यवस्था उच्च कोटि की थी।  
संदर्भ □

१. अभिधान राजेन्द्र (पृ० २६०५) में “दूत”—‘अन्येषां ज्ञात्वा राजाऽऽदेश निवेदन के’ (औ० रा० कल्प० ज्ञा० म०) तथा जनेन्द्र सिद्धांतकोश (भाग-२ पृ० ४३५) में “दूत” आहार का एक दोष (दे० आहार० २-२) बताया गया है।
२. जिनसेन, हरिवंशपुराण, ११.६०
३. वही, ११.७८
४. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, १.१६.१३
५. आदि पुराण, ४५.७३
६. वही, ४४.८६
७. उत्तरपुराण, ५८, ६५ १०२
८. मनुस्मृति, ७.६३
९. कामन्दक, १३.२-३
१०. पउमचरियं, ३६.८५, ८६, ६६.१३
११. शुक्रनीति, २-८७
१२. आदिपुराण, ३४.८६, ४४.१३६-१३७
१३. नीतिवाक्यामृतम्, १३.४
१४. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, १-१६
१५. आदिपुराण, ४३.२०२
१६. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, १-१६-३
१७. आदि पुराण, ४३.२०२
१८. पउमचरियं, ६६.४, ५४, ६०
१९. पउमचरियं, ८.८८, १८७
२०. कौटिल्य-अर्थशास्त्र. १-१६-३३
२१. पउमचरियं, १३.८
२२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, १-६-३५
२३. मनुस्मृति, ७-६६
२४. नीतिवाक्यामृतम्, १३.१०-२१
२५. महाभारत, शान्ति-पर्व, ८५-२६, २७

## जैन दर्शन—स्याद्वाद पद्धति

□ राजवीर सिंह शेखावत

दार्शनिक समस्याओं या विषयों पर विचार करने या किसी दार्शनिक सिद्धांत का निर्माण करने या जगत् एवं जगत् की वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए विचार प्रणाली या तो परम्परागत दर्शन से प्राप्त हो जाती है या फिर कोई अपनी नयी विचार पद्धति को विकसित करता है। जैनों ने किसी परम्परागत विचार पद्धति को स्वीकार नहीं किया और न डेकार्ट जैसी किसी पद्धति को ही विकसित किया। ऐसा होते हुए भी उनके चिन्तन का तरीका अन्य विचार-पद्धतियों से भिन्न तथा विशिष्ट है जिसे उनके दर्शन या दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या से जाना जा सकता है।

जैन किसी पूर्व मान्यता या सामान्य नियम या किसी सर्वव्यापी तर्क वाक्य को लेकर आगे नहीं बढ़ते हैं, अपितु आनुभविक जगत् से अपने चिन्तन को प्रारम्भ करते हैं। जैनों की मुख्य समस्या है, जगत् क्या है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? जीवन का उद्देश्य क्या है? इन जटिल समस्याओं को कैसे सुलझाया जा सकता है? इन समस्याओं के समाधान के लिए जगत् की संश्लिष्ट वस्तुएं उनके सामने थीं। इन संश्लिष्ट वस्तुओं को समझने के लिए प्रथमतः उन्होंने अपनी दृष्टि वस्तुओं के धर्मों पर केन्द्रित की। वस्तुओं के धर्मों को जानने के लिए वे किसी वस्तु विशेष के धर्मों तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु धर्मों को जानने-समझने के लिए अन्य वस्तुओं के धर्मों से उनकी तुलना तथा सम्बन्ध को देखा तथा वस्तु विशेष के धर्मों को अन्य वस्तुओं के धर्मों के आलोक में समझा और प्रत्येक धर्म को उसके प्रतिपक्षी धर्म के साथ जाना। इस प्रक्रिया में वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वस्तु में एक से अधिक धर्म ही नहीं, अपितु अनेक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ रहते हैं। तथा इस प्रकार के धर्मों से युक्त वस्तु एक ही नहीं, अपितु अनेक हैं तथा ज्ञान पर आश्रित भी नहीं हैं, ज्ञान से स्वतन्त्र है। इन अनेक प्रतिपक्षी धर्मों के आश्रय को किसी एक ही दृष्टि से नहीं जाना जा सकता है। क्योंकि एकांतिक दृष्टि से देखने पर प्रतिपक्षी धर्मों में विरोध दिखाई देता है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक अपनी विचार पद्धति या दर्शन-पद्धति के केन्द्र बिन्दु अनेकान्त दृष्टि पर पहुंचे। इस पद्धति के अनुसार किसी समस्या, विषय या वस्तु का निश्चयात्मक, अवशसनीय तथा पूरी तरह से ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है उसे अनेकान्त दृष्टि से देखें। अनेकान्त दृष्टि का तात्पर्य है, वस्तु या विषय के प्रत्येक धर्म को भिन्न-भिन्न पक्षों या अपेक्षाओं से उसके प्रतिपक्षी धर्म के साथ देखें। वस्तु को अनेकान्त दृष्टि

से क्यों देखें ? क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है। इन अनन्त धर्मों को एकान्तिक दृष्टि से पूरी तरह से नहीं जाना जा सकता है। यदि वस्तु को एकान्तिक दृष्टि से जाने तो वस्तु के बारे में हम यही कह सकते हैं कि वह सत् है, नित्य है, एक है, किन्तु इस प्रकार से जाना गया वस्तु का स्वरूप यथार्थ स्वरूप नहीं है, क्योंकि इन धर्मों के प्रतिपक्षी अविनाभावी धर्मों को तो जाना ही नहीं गया है और इन प्रतिपक्षी अविनाभावी धर्मों को जानना ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना है, जिसे अनेकान्त दृष्टि से ही जाना जा सकता है। किसी वस्तु या विषय को अनेकान्त दृष्टि से समझने की आवश्यकता को एक दृष्टांत से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे हम किसी भवन के बारे में जानना चाहते हैं तो उसको एक स्थान से पूरी तरह से नहीं जाना जा सकता है। यदि उसे स्थान विशेष से देखें तो किसी एक भाग का ही ज्ञान होगा। उसको मुख्य दरवाजे की दिशा से देखने पर उसकी तीन अन्य दिशाओं तथा उसके अन्दर के भागों का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी अन्य दिशा से देखने पर शेष अन्य दिशाओं का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उसे भिन्न-भिन्न दिशाओं से तथा भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से जानने की आवश्यकता रहती है। दूसरे उस भवन को देश तथा काल की दृष्टि से तथा अन्य भवनों और अन्य वस्तुओं से उसकी तुलना करके ही पूरी तरह से जाना जा सकता है। इसी प्रकार किसी वस्तु या विषय को अनेकान्त दृष्टि से जानना चाहिए। अनेकान्त दृष्टि से वस्तुओं को जानते समय विश्लेषण तथा संश्लेषण होता रहता है। यद्यपि जैन दार्शनिकों ने कहीं संश्लेषण तथा विश्लेषण की चर्चा नहीं की है, फिर भी इस प्रक्रिया द्वारा उनकी दर्शन विधि को समझा जा सकता है।

विश्लेषण तथा संश्लेषण प्रक्रिया के अनुसार सबसे पहले जगत् के विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक संश्लिष्ट विषयों को वैचारिक स्तर पर सरल घटकों में घटाना फिर सरल घटकों को सरलतम घटकों में घटाना और यह देखना कि इन घटकों की प्रकृति या स्वरूप क्या है ? इस विश्लेषण प्रक्रिया के पूरी होने के पश्चात् संश्लेषण की ओर चलना। संश्लेषण-प्रक्रिया में समान धर्म वाली सभी वस्तुओं या विषयों को वर्ग में रखना तथा भिन्न धर्मों वाली वस्तुओं को भिन्न-भिन्न वर्गों में। इस प्रकार जगत् की सभी वस्तुओं को समान धर्मों के आधार पर जितनी कोटियों में रखा जा सकता है, रखें और अन्त में सब कोटियों के समान धर्म के आधार पर एक कोटि या वर्ग में रख दें। इस प्रक्रिया को जगत् तथा उसके विषयों पर घटा कर देखा जा सकता है।

विश्लेषित जगत् के संश्लिष्ट विषय अनेक हैं, जिन्हें हम जानना चाहते हैं। जानने की प्रक्रिया में सबसे पहले हम उन्हें, अंशों में घटाते हैं, क्योंकि वे सरल नहीं हैं और जानने के लिए संश्लिष्ट को सरल अंशों में घटाना आवश्यक है। उस विश्लेषण प्रक्रिया में वस्तुओं में अनेक धर्म प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। यह निष्कर्ष जैन दर्शन का एक तत्वमीमांसीय सिद्धान्त है जिसे अनेकान्त सिद्धान्त या अनेकान्तवाद कहते हैं। यह निष्कर्ष सभी वस्तुओं पर लागू होता है, किन्तु वस्तुएं तो अनेक हैं जिन्हें अगर अलग-अलग कोटि की मानी जाये तब तो

समस्त वस्तुओं को समझना या जानना कठिन है। किन्तु इन सब वस्तुओं में से कुछ वस्तुओं में समान धर्म होते हैं, जो अन्य वस्तुओं में नहीं होते। इन समान धर्मों के आधार पर वस्तुओं को अलग-अलग कोटि में रख देते हैं। यहाँ से विचार-प्रणाली की संश्लेषात्मक प्रक्रिया चालू हो जाती है। जिसके दो चरण हैं। प्रथम चरण में संश्लेषण प्रक्रिया में जगत् के समस्त विषयों को समान धर्मों के आधार पर छः घटकों में—जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—रख देते हैं। दूसरे चरण में इन छहों द्रव्यों में समानता देखी जाती है जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता इन तीनों रूपों में प्राप्त होती है। ये तीनों पक्ष जगत् के समस्त विषयों में पाये जाते हैं जिसके आधार पर सब वस्तुओं या विषयों या छहों द्रव्यों को एक वर्ग—द्रव्य—में रख देते हैं। यह संश्लेषण की अन्तिम अवस्था है। इसके पश्चात् संश्लेषण से विश्लेषण की ओर द्रव्यों को घटाते हुए परीक्षण कर लिया जाता है, और अन्त में जगत् तथा उसके विषयों की एक व्यवस्था दे दी जाती है, जो सिद्धान्त के रूप में फलित होता है। इस प्रकार विश्लेषण द्वारा अनेकान्तवाद पर तथा संश्लेषण प्रक्रिया द्वारा सत् या द्रव्य सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। विचार पद्धति की विश्लेषण तथा संश्लेषण प्रक्रिया को एक चित्र के द्वारा समझा जा सकता है—

क धर्म	एक इन्द्रिय जीव
ख धर्म	दो इन्द्रिय जीव
ग धर्म पक्षी धर्म	तीन इन्द्रिय जीव जीव
घ धर्म	चार इन्द्रिय जीव
ङ धर्म	पाँच इन्द्रिय जीव

#### नित्य धर्म

क धर्म		
ख धर्म		पृथ्वी
ग धर्म प्रतिपक्षी धर्म		जल
घ धर्म	क वस्तु	अग्नि
ङ धर्म		वायु
		मन
		पुद्गल

क अवस्था		कर्म
ख अवस्था		इन्द्रियां

ग अवस्था अनित्य धर्म

घ अवस्था

ङ अवस्था

च अवस्था

क धर्म	विश्लेषण	जगत्	संश्लेषण	
ख धर्म	प्रक्रिया		प्रक्रिया	द्रव्य
ग धर्म पक्षी धर्म			धर्म	धर्म

घ धर्म  
ङ धर्म

	नित्य धर्म		
क धर्म		अधर्म	अधर्म
ख धर्म			
ग धर्म	प्रतिपक्षी		
घ धर्म	धर्म	ख वस्तु	आकाश
ङ धर्म			आकाश
क अवस्था			क काल
ख अवस्था			ख काल
ग अवस्था	अनित्य धर्म		ग काल
घ अवस्था			घ काल
ङ अवस्था			

ध्यान देने की बात यह है कि जैन विचार प्रणाली की विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक प्रक्रिया सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से लागू नहीं होती है। इस प्रक्रिया को दो भिन्न व्यक्तियों के संदर्भ में समझना आवश्यक है। एक उस व्यक्ति के संदर्भ में जो इस विधि का जनक है दूसरा उस व्यक्ति के संदर्भ में जो उसका अनुयायी है। दोनों व्यक्तियों के संदर्भ में यह पद्धति एक दूसरे के विपरीत चलती है। जो जनक है वह विश्लेषण से संश्लेषण की ओर चलता है तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। इसके विपरीत अनुयायी के लिए जनक का निष्कर्ष आरम्भ बिन्दु है जो संश्लेषणात्मक है, वह इस संश्लेषण से विश्लेषण की ओर चलता है तथा अंत में वस्तु अन्त धर्मात्मक है इसकी सिद्धि ही उसके लिए निष्कर्ष है। इस बात को इस प्रकार समझा जा सकता है—

जनक की विचार प्रक्रिया—समस्या—विश्लेषण—संश्लेषण—निष्कर्ष—सिद्धांत निर्माण।

अनुयायी की विचार प्रक्रिया—समस्या—निष्कर्ष—विश्लेषण—निष्कर्ष—सिद्धांत की सिद्धि निर्माण।

जनक की विचार प्रक्रिया में सबसे पहले कोई समस्या होती है, फिर वह समस्या के समाधान के लिए वस्तुओं का विश्लेषण करता है, फिर संश्लेषण करता है और संश्लेषण से वह किसी निष्कर्ष पर पहुंचता है तथा अन्त में सिद्धांत का निर्माण करता है। इसके विपरीत अनुयायी की विचार प्रक्रिया में सबसे पहले समस्या होती है और समस्या से संबंधित अन्य व्यक्ति से प्राप्त निष्कर्ष भी। वह इस निष्कर्ष का विश्लेषण करता है और विश्लेषण के द्वारा निष्कर्ष की प्रामाणिकता की जाँच करता और यदि विश्लेषण से निष्कर्ष की सिद्धि हो जाती है तब वही सिद्धि उसके लिए निष्कर्ष है और अंत में वह भी सिद्धांत की स्थापना करता है।

वस्तु अनंत धर्मात्मक है तथा उसे अनेकांत दृष्टि से जाना जा सकता है, किन्तु यहां प्रश्न है कि वस्तु को अनेकान्त दृष्टि से कैसे देखा या जाना जाए ? इसका जवाब है अपेक्षा से। अपेक्षा सिद्धांत के अनुसार किसी भी समस्या का कोई निरपेक्ष जवाब नहीं हो सकता है और न ही किसी वस्तु को निरपेक्ष रूप से जाना जा सकता है। वस्तु को अन्य वस्तुओं या विषयों की अपेक्षा से ही समझा जा सकता है। किसी वस्तु या उसके धर्मों को स्वयं के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से तथा पर-द्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से जाना जाता है तथा उसे इसी प्रकार जानना चाहिए।<sup>१</sup>

पुनः प्रश्न होता है कि वस्तु में रहने वाले प्रतिपक्षी धर्मों को कैसे समझा जाये ? इसका जवाब है कि अपेक्षा—सिद्धान्त के साथ अविनाभाव से प्रतिपक्षी धर्मों को जानें या समझें। "साधारणतः यह माना जाता है कि किसी वस्तु में दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते हैं। किन्तु जैन दार्शनिकों का मानना है कि प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है। नित्य अनित्य के साथ, एक अनेक के साथ, सत् असत् के साथ रहता है, इनमें कोई विरोध नहीं है। सत् असत् का अविनाभावी है<sup>२</sup> और नित्य अनित्य का अविनाभावी है। अतः जब वस्तु में सत् है तो अविनाभाव से असत् को भी जानें। इस प्रकार अपेक्षा सिद्धान्त तथा अविनाभाव से प्रतिपक्षी धर्मों को जानना चाहिए।

यहां प्रश्न है कि अनेकांत दृष्टि से व्यक्ति वस्तु को एक ही समय में समग्र रूप से जानता है या भिन्न-भिन्न काल में खण्ड-खण्ड रूप में ? इसके जवाब में जैन दार्शनिकों का कहना है कि वस्तु को अनेकान्त दृष्टि से एक ही समय में समग्र रूप से भी जानते हैं और भिन्न-भिन्न समय में खण्ड-खण्ड में भी। केवली अनेकान्त दृष्टि से वस्तु को एक ही समय में समग्र रूप से जानता है और साधारण व्यक्ति भिन्न-भिन्न समय में खण्ड-खण्ड रूप से वस्तु को जानता है। वस्तु के खण्ड-खण्ड ज्ञान को 'नय' कहते हैं<sup>३</sup> अर्थात् वस्तु को खण्ड-खण्ड रूप में नय के द्वारा जाना जाता है, और जितनी दृष्टियों से वस्तु को जानते हैं उतने ही 'नय' होते हैं।<sup>४</sup>

किन्तु वस्तु को अनेकांत दृष्टि से और अपेक्षा सिद्धांत से जानने पर वस्तु का विविध प्रकार से ज्ञान होता है, जिसको भाषा में एक समय तथा एक ही शब्द द्वारा अभिव्यक्ति करना कठिन है, क्योंकि कोई ऐसा एक शब्द नहीं है जो वस्तु के विविध प्रकार के ज्ञान को एकही समय में अभिव्यक्त कर सके। तब प्रश्न होता है कि वस्तु के इन विविध एवं विरोधी पक्षों को किस प्रकार कहा जाए ? इसके जवाब में जैन दार्शनिकों का कहना है कि स्याद्वाद विधि द्वारा विविध एवं विरोधी पक्षों को कहना या प्रतिपादन करना चाहिए। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु के विविध पक्षों या अनेक धर्मों में से एक समय में एक ही धर्म का कथन या प्रतिपादन किया जा सकता है<sup>५</sup> और प्रत्येक धर्म का प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्म को लेकर सात प्रकार से किया जा सकता है।<sup>६</sup> इस विधि के अनुसार कथन के पहले स्यात् शब्द को लगाना चाहिए<sup>७</sup> जो इस बात का द्योतक है कि वस्तु में जिस धर्म के बारे में कहा जा रहा है वही धर्म नहीं, अन्य धर्म भी

उस वस्तु में है, अर्थात् स्यात् शब्द वस्तु में उन धर्मों को बता रहा है, जिनके बारे में कहा नहीं जा रहा है, जैसे—‘स्यात् घट है।’ इस कथन में ‘घट है’ यह तो ‘घट’ के अस्तित्व को बता रहा है और स्यात् नास्तित्व आदि अन्य धर्मों को बता रहा है। इस प्रकार स्यात् शब्द कथन को सापेक्ष बना देता है, जिसके कारण किसी धर्म के प्रतिपादन के लिए सात प्रकार के कथन करने पड़ते हैं। (१) स्यात्.....है। (२) स्यात्..... नहीं है। (३) स्यात्.....है और नहीं भी है। (४) स्यात्..... अवाच्य। (५) स्यात्.....है और अवाच्य भी। (६) स्यात्.....नहीं है और अवाच्य भी (७) स्यात्.....है, नहीं है और अवाच्य भी।<sup>१९</sup> इस प्रकार प्रत्येक धर्म के बारे में सात प्रकार के कथन किए जा सकते हैं।

पुनः प्रश्न होता है कि किसी धर्म के बारे में सात प्रकार के कथन किए जाते हैं, जो शब्दों के द्वारा ही सम्भव है, किन्तु शास्त्र में और व्यवहार में किसी शब्द का एक ही अर्थ नहीं होता है, प्रयोजन के अनुसार वह अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है।<sup>१९</sup> तब किसी शब्द के अर्थ को कैसे निश्चित किया जाए अर्थात् शब्द का प्रयोग कहां किस अर्थ में किया गया है, यह कैसे निश्चित करें? इसके जबाब में कहा गया है कि निक्षेप विधि द्वारा।<sup>१९</sup> इस विधि के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप के अनुसार किसी शब्द का प्रयोग चार रूप में किया जा सकता है<sup>१९</sup> और इन्हीं चार रूपों के अनुसार शब्द का अर्थ निश्चित होता है। जब गुण, जाति या क्रिया की अपेक्षा किये बिना किसी का नाम रख दिया जाता है उसे नाम निक्षेप कहते हैं और किसी अनुपस्थित वस्तु का किसी दूसरी उपस्थित वस्तु में आरोप कर देना स्थापना-निक्षेप है तथा भूत या भविष्य की अवस्था को वर्तमान में कहना द्रव्य-निक्षेप है और वर्तमान अवस्था को कहना भाव-निक्षेप है।<sup>१९</sup> इन निक्षेपों से शब्द के अर्थ को समझना चाहिए।

इस प्रकार संक्षिप्त रूप से कहा जा सकता है कि वस्तुएं अनन्त धर्मात्मक है जिन्हें अनेकांत दृष्टि से जाना जा सकता है और इसके लिए वस्तु को ‘स्व’ तथा ‘पर’ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भाव की अपेक्षा से समझना चाहिए तथा अनेकांत दृष्टि से प्राप्त ज्ञान को स्याद्वाद विधि द्वारा कहना चाहिए जो एक वस्तु के यथार्थ एवं पूर्ण रूप से जानने या समझने की विधि के साथ निर्दोष रूप से कहने की विधि भी है, जो अन्य दर्शन पद्धतियों में नहीं है। □□

### संदर्भ-सूची

१. षड्दर्शन-समुच्चय, सू० ५५ तथा उस पर गुणरत्न की टीका। २. जैन दर्शन, पृ० ४०.
३. वही, पृ० ३८, ३९
४. आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका, प्रस्तावना, पृ० ६६.
५. वही, प्रस्तावना, पृ० ८६
६. वही, प्रस्तावना, पृ० ८६, ९०
७. जैन-दर्शन, पृ० ३३२ परमभाव प्रकाशक नव चक्र, पृ० २३
८. आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका, पृ० ८८
९. वही, प्रस्तावना, पृ० ६३
१०. वही, प्रस्तावना, पृ० ६५, ६६ ११. वही, प्रस्तावना, पृ० ६२ १२. वही, पृ० १४४
१३. सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १४
१४. वही, पृ० १४.
१५. तत्त्वार्थ सूत्र, सू० १.५.
१६. मोक्ष शास्त्र, पृ० २२, २३



## ‘अश्रुवीणा’ में बिम्ब योजना

□ डॉ० हरिशंकर पाण्डेय

(लेखक ने बिम्बानुभूति से तादात्म्य माना है किन्तु बिम्बयोजना गीतिकाव्य में तो मिथ्या मर्यादा का ही निर्माण करती है। उससे गीतिकार की निजता, संकेतों में बदल जाती है और सहृदय और स्रष्टा के बीच अन्त-राल आ जाता है।

बीसवी सदी ने जीवन में एक विशेष प्रकार की जल्दबाजी और संक्षेप को बढ़ावा दिया है। साहित्यिक विधाओं में भी यह त्वरा और लाघव बढ़ा है। संभवतः इसी ने कवि को छन्द-प्रयोजना से विमुख बनाकर बिम्बयोजना में प्रवृत्त कर दिया लगता है।

‘अश्रुवीणा’ युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की अनूठी कृति है। उसका प्रत्येक शब्द सजीव है। उसमें बिम्ब योजना की खोज करना तो गुड़ में मिठास खोजना जैसा है। फिर भी लेखक का प्रयास स्तुत्य है।—संपादक)

संस्कृत काव्य विधाओं में गीतिकाव्य का स्थान अन्यतम है। “विनाकृतं विरहितं व्यचिन्तनं विशेषितम्” रूप मौक्तकीय परिभाषा से संबलित, कल्पना, भावना, संगीत, वेदना और अनुभूति से मिश्रित, गीतिकाव्य की महनीय परम्परा में अधिष्ठित अश्रुवीणा युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ की उत्कृष्ट रचना है। इसमें संसारानल से संतप्त सती चन्दनबाला की वेदना गीति कारुण्य पूर्ण भाषा में अणुरणित है।

बिम्ब, काव्य के प्राण तत्त्व होते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में ‘अश्रुवीणा’ में प्रयुक्त रसात्मक एवं प्रभावात्मक बिम्बों का अनुशीलन अवधेय है।

### बिम्ब की परिभाषा

किसी पदार्थ का मनश्चित्र, मानसिक-प्रतिकृति, कल्पना एवं स्मृति में उपस्थित चित्र बिम्ब है। मानसिक पुनर्निर्माण को बिम्ब कहते हैं। बिम्ब हृदय और मस्तिष्क की आंखों से देखी जानेवाली वस्तु है।<sup>1</sup> एक प्रख्यात विचारक के अनुसार ‘काव्य बिम्ब शब्दात्मक ऐन्द्रिक-चित्र है, जो कुछ अंशों में रूपकात्मक होते हुए भी मानवीय भावों का अभिव्यंजक होता है।<sup>2</sup> भाव और संस्कार अवचेतन मन में अवस्थित होते हैं उन्हीं की ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति बिम्ब है। अप्राप्त को प्राप्त बना देना तथा अमूर्त विचार या भावना की मूर्त अभिव्यंजना बिम्ब है।<sup>3</sup>

कवि स्वयंदृष्ट एवं अनुभूत वस्तुओं को पाठकों तक बिम्ब के माध्यम से ही पहुंचाता है। अतएव अनुभूति की यथातथ्य अभिव्यक्ति बिम्ब है। ‘कैरोलियन स्पसियन’

ने 'शेक्सपियर' के बिम्बों के विश्लेषण के क्रम में कहा है कि 'बिम्ब कवि द्वारा अपने विचारों को उदाहृत, सुस्पष्ट एवं अलंकृत करने के लिए प्रयुक्त एक लघु शब्द चित्र है। कवि वर्ण्यविषय को जिस ढंग से देखता है, सोचता या अनुभव करता है, बिम्ब उसकी समग्रता, गहनता, रमणीयता एवं विशदता को अपने द्वारा उद्बुद्ध भावों एवं अनुषंगों के माध्यम से पाठक तक सम्प्रेषित करता है।' हिन्दी साहित्य के प्रख्यात आलोचक डा० नगेन्द्र के अनुसार काव्य-बिम्ब पदार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानसिक छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है। वह एक चित्र है जिसका तात्पर्य 'जो कुछ हम वर्णन कर रहे हैं, उसे साक्षात् देख रहे हैं, और पाठकों के आगे भी प्रत्यक्ष करा रहे हैं।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बिम्ब काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है, जिसके बिना 'सफल-काव्य' की संभावना नहीं की जा सकती है। कवि अपने हृदयगत वेदना, भावना एवं अनुभूति को शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। पाठक जब काव्यास्वादन करता है तो कवि वर्णित वस्तु की स्पष्ट छवि या मानसिक-चित्र उसके सामने प्रस्तुत हो जाता है। यह बिम्बानुभूति यद्यपि आत्मा स्थानीय है परन्तु स्थूल रूप से इन्द्रिय-ग्राह्य है। इन्द्रियों के माध्यम से ही बिम्ब आत्मा-विषयक होता है। रसिक जब बिम्बास्वादन करता है तब उसकी स्थिति तादात्म्य-रूप हो जाती है। तदाकारता की प्राप्ति बिम्ब का महत्त्वपूर्ण फल है।

बिम्ब रसास्वादन का मुख्य आधार है। जब तक सामाजिक के मानसिक धरातल पर बिम्बनिर्मिति नहीं होती तब तक रस-चर्चणा असंभाव्य है। वस्तुगत बिम्बन होते ही सामाजिक, साधारणीकृत स्थिति में पहुंचकर आनन्दित हो उठता है। यही रसानन्द आत्मानन्द का सहोदर कहा गया है।<sup>1</sup>

**वर्गीकरण**—अश्रुवीणा में प्राप्त बिम्बों का वर्गीकरण इन्द्रिय के आधार पर किया जा रहा है।

इन्द्रियाधार पर प्रथमतः बिम्बों को दो विभागों में वर्णित करेंगे—बाह्येन्द्रिय ग्राह्य और अन्तःकरणेन्द्रियग्राह्य बिम्ब। पुनः दोनों के क्रमशः पांच—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और दो—भाव बिम्ब एवं प्रज्ञा बिम्ब उपविभाग हैं।

### बाह्येन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब

१. शब्दबिम्ब—कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बिम्ब को शब्द बिम्ब कहते हैं। कवि या कलाकार अपनी हृदयगत अनुभूतियों को शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त करता है और अतएव सशक्त अभिव्यक्ति के माध्यम शब्द ही हैं। काव्य में यह तीन रूप में पाया जाता है—

(क) अनुप्रासादि अलंकारों की योजना में।

(ख) अनुकरणात्मक एवं अणुरणनात्मक शब्द के रूप में—जैसे नूपुर, झंकार, मर्मर आदि।

(ग) जो ध्वनि प्रतीकों पर आश्रित है—यथा वीणा, मृदंग, वंशी आदि की ध्वनि।

अश्रुवीणा में अनेक प्रकार के चारु-शब्द बिम्ब मिलते हैं। इस काव्य का प्रारम्भ

रमणीय अनुप्रासात्मक बिम्ब से ही होता है—

“श्रद्धे ! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्धविग्धास्यवन्तान्,  
भद्रानज्ञान् वचसि निरतांस्तर्कबाणैरदिग्धान् ।”

उपर्युक्त श्लोक में अनुप्रासात्मक पदों द्वारा श्रद्धा का मनोरम चित्र उपस्थापित किया गया है। ‘दुग्ध’ और ‘दिग्ध’ शब्द अपना अर्थ प्रतिपादित तो करते ही हैं; साथ ही कोमल शब्द बिम्ब भी अंकित कर जाते हैं।

जब व्यक्ति की चिर प्रतीक्षित अभिलाषा पूर्ण होते-होते खण्डित हो जाती है तो वेदनाभिभूत हृदय से दुःख की लहरियां सिसकियों के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगती हैं।

‘ध्येयं सम्यक् वचचिदपि न वा न्यून-सज्जा भवेत्,  
घोषाः पुष्टा बहुलतुमुलास्ते पुरश्चारिणः स्युः ।”

वाह ! कैसा मनोरम बिम्ब—सिसकियों का ! आंसुओं के आगे-आगे चलने वाली निरीहा बाला की सिसकियां सामान्य जन को क्या, भगवान् को भी करुणाभिभूत करने का सामर्थ्य रखती हैं।

आंसुओं के प्रति संबोधित चन्दन बाला के शब्दों का एक मनोरम बिम्ब—

आंसुओं ! तुम जल्दी जाओ ! देखो ! वह तपस्वी जा रहा है, जो मुझे साक्षात् मिला था। वह संचित सुकृत् द्वारा ही मिला करता है। आंसुओं ! तुम्हें पाकर अकेला व्यक्ति भी साथ एवं विपत्ति के भार से मुक्ति का अनुभव करता है, जहां कोई शरण नहीं वहां तुम्हीं सहायक बनते हो। आंसुओं के प्रति कहे गए विरह-व्यथिता के ये शब्द हृदय पटल पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं तथा इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन भी कर जाते हैं कि विरहिणियों के मनोविनोद का एक साधन आंसु भी हैं।

अश्रुवीणा की एक महती विशिष्टता है—‘भाव या अमूर्त पदार्थ का मूर्त चित्रण’, जो इसे रूपकात्मक प्रतीक-काव्य की उदात्त परम्परा में प्रतिष्ठित करता है। ‘शब्द’ को १३ श्लोकों में मूर्त पात्र के रूप में चित्रित किया गया है, तथा इसके विभिन्न गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है, जैसे—‘शब्द पुद्गल-स्कन्ध समुत्थ हैं, (३३), शब्द दृश्य और श्रव्य दोनों हैं (३४), उनमें समस्त वातावरण को झकझोर देने की शक्ति निहित है। (३५) शब्द आकाश में फैले हुए पुद्गल-स्कन्धों के सहयोग से आगे बढ़ते हैं (३६) आदि।

२. स्पर्श बिम्ब—त्वगेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषयों को स्पर्श बिम्ब कहते हैं। स्पर्श बिम्ब में शीतलता, उष्णता, कोमलता, कठोरता आदि का विशेष महत्त्व है। अश्रुवीणा में इसकी अल्प मात्रा है।

स्निग्धता—श्रद्धा-मय जीविता नारियों के आंसू अत्यन्त स्निग्ध होते हैं। चन्दनबाला के आंसुओं की स्निग्धता का बिम्ब—“युष्मत् स्नेह-प्रवहणमिदं संविरोत्स्यन्त एव ।”

पवन—फाल्गुनी तूफान किसे अच्छे नहीं लगे ? भले ही कुछ उड़ाकर क्यों न ले जाएं । इन हवाओं का स्पर्श अत्यन्त आह्लादक एवं शक्तिसंबद्धक होता है । उदाहरण दृष्टव्य है—

“तीव्रं नग्नंकरणमानिलं फाल्गुनं वेगवन्तं,  
किं न्यक्कुर्यात् परिणतदला काममारामराजिः ।”

रोमाञ्च—अलम्य वस्तु को पाकर व्यक्ति रोमांचित हो जाता है । भगवान् को पाकर चन्दन बाला पुलकित हो गयी है—‘स्वस्थां चक्रे पुलकिततनुं चन्दनां स्मेर-नेत्राम् ।’<sup>१३</sup>

३. रूप बिम्ब—चक्षुरीन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषयों को ‘रूप-बिम्ब’ के अन्तर्गत रखा जाता है । काव्यों में ‘रूप-बिम्ब’ की प्रधानता होती है । अश्रुवीणा के कवि ने भी सर्वाधिक इसी बिम्ब का उपयोग किया है—

बाल-सौन्दर्य—श्रद्धा-वर्णन के प्रारम्भ में ही (काव्यारम्भ में) वैसे बच्चों का सौन्दर्य रूपायित हो रहा है जिनके मुंह और दांतों का दुग्ध भी अभी नहीं सूखा है, जो अत्यन्त भोले हैं—“शिशून् दुग्ध-दिग्घास्यदन्तान् ।”<sup>१३</sup>

निर्ग्रन्थ-महावीर—अश्रुवीणा के अनेक स्थलों पर निर्ग्रन्थ भगवान् के रमणीय बिम्ब उपलब्ध होते हैं । कहीं तपलीन तो कहीं निगडबद्धा-बाला के उद्धार के निमित्त अभिग्रह धारण करते हुए तो कहीं ग्रहीता के रूप में उनका दर्शन होता है । अडोल प्रती के रूप में उनका चित्र रूपायित हो रहा है ।<sup>१४</sup>

महिला-जगत् ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण जगत् के आशास्थान के दर्शन कर कौन प्राणी निहाल नहीं होता ? चन्दन बाला धन्य हो गयी । सामने प्रभु उपस्थित हैं—उन्हीं से वह बाला निवेदित कर रही है—

“आशास्थानं त्वमसि भगवन् ! स्त्री जनानामपूर्वं,  
त्वत्तो बुद्ध्वा स्वपदमुचितं स्त्री जगद् भावि धन्यम् ।  
जिह्वां कृष्ट्वाऽसहनरथिकः काममत्तोऽम्बया मे,  
दृष्टि नीतोऽस्तमित नयनस्तत्र दीपस्त्वमेव ॥”<sup>१५</sup>

इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थलों पर प्रभु के बिम्ब उपलब्ध हैं ।

### चन्दनबाला

अश्रुवीणा के पद-पद में एक ऐसी नारी का दर्शन होता है जो संसार के अत्याचार से ऊबकर अपना सर्वस्व शरण्य महावीर के चरणों में समर्पित कर चुकी है । जिसकी हृदय-तंत्री वीणा के तार के समान झंझुत हो रही है और हृदयस्थ भाव आसू बनकर भगवान् के चरण चूम रहे हैं ।

चिर प्रतीक्षित इच्छा को प्राप्त कर चन्दन बाला धन्य-धन्य हो गयी । आज उसकी वर्षों की साधनापूर्ण हो गयी । प्रभु का दर्शन पाकर अपने पूर्व शारीरिक कष्टों को भूलकर आह्लादित हो गयी है । उसके शरीर से स्वेद-कण टपकने लगे । अचानक अपने उपास्य को पाकर वह व्यथिता किर्कत्तव्य-विमूढ़ हो गयी—

‘खेदं स्वेदो बहिरपनयञ्जात आकस्मिकेन,  
 प्रोत्लासेनाऽभ्युदयमयता वर्षानात् विश्वभर्तुः ।  
 कामं भ्रान्तां किमपि किमपि प्रस्मरन्तीं स्मरन्तीं,  
 स्वस्थां चक्रे पुलकित तनुं चन्दनां स्मेरनेत्राम् ॥

किन्तु भगवान् आशापूर्ण किए बिना लौट गए—कैसी स्थिति हो गयी । हा हन्त !  
 नवयौवना तत्काल मूर्च्छित हो गयी । उसकी चेतना लौटी, लेकिन दुःख के अथाह  
 सागर के साथ । वह चारों तरफ अपने पिपासित नयनों से श्रद्धास्पद को खोज रही  
 थी । उसकी दृष्टि से करुणा और आशा झलक रही थी और उसका दिल टूट रहा  
 था ।<sup>१०</sup>

‘दाता और ग्रहिता’ का रमणीय बिम्ब द्रष्टव्य है—

‘हर्षातिरेक’ से कांपती हुई चन्दना प्रभु को उड़द समर्पित कर रही है, भगवान्  
 उसे ग्रहण कर रहे हैं—

‘पाणी दात्र्याः प्रमद-विभव-प्रेरणात्कम्पमानो,  
 स्निग्धौ ऋवापि व्यथितपृषता माषसूर्पं वहन्तौ ।  
 आदातुस्तौ दृढतमबलात् सुस्थिरौ सानुकम्पो  
 सद्योऽकार्ष्ण हृदयसजलौ सूर्पमाषान् वहन्तौ ॥’<sup>११</sup>

आसू—अनेक स्थलों पर आसूओं के बिम्ब उपलब्ध होते हैं । अश्रुवीणा के  
 कवि ने आसूओं का मानवीकरण कर अपने विशाल हृदय का परिचय दिया है । जब  
 निर्ग्रन्थ महावीर चन्दन बाला की इच्छा पूर्ण किए बिना लौटने लगते हैं तब चन्दना  
 के हृदय की समस्त भावनाएं प्रभु को रोकने के लिए आसूओं के रूप में उमड़ पड़ीं ।  
 यहां दस (२३-३२) श्लोकों में आसूओं का चित्रण किया गया है जो हृदयावर्जक  
 है ।

आसू विरहियों के मनोविनोद तथा उनके सुख-दुःख के सहायक हैं—‘लब्ध्वा  
 नान्यो भवति शरणं तत्र यूयं सहायाः ।’<sup>१२</sup>

आसू में अद्भुत शक्ति है, उसके प्रवाह में भगवान् महावीर भी निमज्जित हो  
 जाते हैं—

‘मग्नाः सद्यो वहति विरलं तेऽपि युष्मत्प्रवाहे’ ।<sup>१३</sup>

आसू का सम्बन्ध हृदय से होता है, उसकी भाषा हृदय की भाषा होती है ।  
 इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के रूप-बिम्ब मिलते हैं । यथा रथिक (१४) सर्प  
 और महावीर (१५) पैदल चलते महावीर और उनके सामने चंदना के आसू (२५),  
 मेघ (११,७५) तारा (७६) तपकृष्ण महावीर (६०) उड़द (६८) हाला (६५)  
 सूर्य एवं घड़ा (७५) आदि ।

रसबिम्ब—रसगन्ध्रिय द्वारा ग्राह्य बिम्ब रस बिम्ब है । अश्रुवीणा में यह  
 अत्यल्प मात्रा में मिलता है । उड़द के स्वाद का बिम्ब उपलब्ध है ।<sup>१४</sup>

गन्ध बिम्ब—घ्राणगन्ध्रिय द्वारा ग्राह्य बिम्ब को गन्ध बिम्ब या घ्राणज बिम्ब  
 कहते हैं । अश्रुवीणा में यह एक स्थान पर वासन्तिक पुष्पों के सौरभ<sup>१५</sup> के रूप में

प्राप्त होता है ।

## २. अन्तःकरणेन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब

१. भाव बिम्ब—हृदय के भावों—भक्ति, श्रद्धा, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, हास्य, क्रोध, आश्चर्य आदि भावों को प्रकाशित करने वाले बिम्ब भाव-बिम्ब कहे जाते हैं ।

अश्रुवीणा में इनका आधिक्य है—

भक्ति—उपास्य या सेव्य में अनन्यानुरक्ति भक्ति है । इसमें सब कुछ उपास्य के चरणों में समर्पित कर दिया जाता है । भक्ति में अद्भुत शक्ति है, जो भगवान् को भी पिघला देती है—

“भक्त्युद्रेकाद् द्रवति हृदयं द्रावयेत्तन्न कं कम् ।”

श्रद्धा—अश्रुवीणा में श्रद्धा के अनेक बिम्ब उपलब्ध होते हैं । श्रद्धा की जो भावधारा प्रथम श्लोक में स्फूर्त होती है वह अन्त तक उपचित होती हुई पाठकों को आह्लादित करती रहती है । प्रथम श्लोक में उसका सुन्दर दर्शन होता है—श्रद्धा वैसे लोगों से प्यार करती है जो प्रपञ्च से उपरत हैं; जिनका मन तर्कों की परिणाम—विरसता से ऊब गया है—श्रद्धा आनन्द का अशोष्य आकर है ।<sup>१४</sup> श्रद्धा से एकात्मकता का उदय होता है । सारा द्वेष विलीन हो जाता है ।<sup>१५</sup> श्रद्धापात्र कोई विरला साधक ही होता है ।<sup>१६</sup>

जो स्थूल दुःख-दर्द को भुला दे वह श्रद्धा है—

“सा का श्रद्धा न खलु जनयेद् विस्मृतिं स्थूलायाः ।”

जब वह उद्विक्त हो जाती है तो कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती है ।<sup>१७</sup> जिसे तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता उसे श्रद्धा के द्वारा सहजतया प्राप्त कर लिया जाता है ।<sup>१८</sup> श्रद्धा (भक्ति) के प्रादुर्भाव से समस्त सांसारिक बुभूक्षाएं निरस्त हो जाती हैं ।<sup>१९</sup>

इसके अतिरिक्त हर्ष (१०) दृढ़ता (६२) उत्साह (६५) दुःख (६६) उत्साह (८८) आशा (५०) आदि के बिम्ब भी उपलब्ध हैं ।

२. प्रज्ञा बिम्ब—दर्शन-ज्ञान से सम्बन्धित बिम्ब प्रज्ञा-बिम्ब कहा जाता है । अश्रुवीणा में अनेक स्थलों पर द्रव्य, संसार, पुद्गल, पाप-पुण्य, भाग्य आदि के बिम्ब प्राप्त होते हैं । संसार (६४, ६५, ६७) शब्द पुद्गलोत्थ हैं (३३, ३४) अवगाह लक्षण वाला आकाश है (७७) पर्याय (६४) सत् (८८) एवं भाग्य (५६) आदि बिम्ब दृष्टव्य हैं ।

इस प्रकार अश्रुवीणा में अनेक सुन्दर एवं मनोह्र बिम्बों का समायोजन हुआ है ।

## पादटिप्पण

१. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रीटेनिका १२.१०३
२. द पोयटिक इमेज पृ० १६
३. जार्ज व्हेली, पोयटिक प्रोसेस पृ० १४५

४. शेक्सपियर इमेजनरी एण्ड ह्याट इट टेलस अस, पृ० ६

५. काव्य बिम्ब पृ० ५

६. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, देखें—अभिनव गुप्त का रस सिद्धान्त

७. अश्रुवीणा-श्लोक संख्या—१

८. तत्रैव ३१	२१. तत्रैव ६८
९. " २३	२२. " ६२
१०. " ३०	२३. " ०६
११. " ६२	२४. " ०३
१२. " १०	२५. " ०४
१३. " ०१	२६. " ०५
१४. " ०७	२७. " ८२
१५. " १४	२८. " ८८
१६. " १०	२९. " ८३
१७. " २२	३०. " ८७
१८. " ६२	
१९. " २३	
२०. " २४	

### भगवतोऽभिग्रहः

“क्रीता कन्या नृपतितनया मुण्डिता चिह्निताऽपि,  
पाशैर्बद्धा कर चरणयोस्त्र्याहिकक्षुत्कलमा च ।  
संभिन्दाना व्यथितहृदया देहलीं नाम पद्भ्या-  
मध्याह्नोर्ध्वं प्रतनु रूदती सूर्प कोणस्थमाषम् ॥  
दद्याद् भोक्ष्ये ध्रुवमितरथा नाहरिष्यामि किञ्चित्,  
षण्मासान्तं सुविहिततया नैव पास्यामि नीरम् ।  
श्रुत्वाप्येतत् सतनुमनसो वेपनं तद्ब्रतं य-  
च्छ्रद्धा-रेखा भवति खचिता नैकरूपा जनानाम् ॥”

## जैन वाङ्मय में स्तुतिपरक साहित्य का आरंभ

आराध्य की स्तुति करने की परम्परा भारत में प्राचीनकाल से ही रही है। भारतीय साहित्य की अमरनिधि वेद मुख्यतः स्तुतिपरक ग्रन्थ हैं। वेदों के अतिरिक्त भी हिन्दूपरम्परा में स्तुतिपरक साहित्य की रचना होती रही है, किन्तु जहाँ तक श्रमणपरम्पराओं का प्रश्न है वे स्वभावतः अनीश्वरवादी बौद्धिक परम्पराएँ हैं। श्रमणधारा के प्राचीन ग्रन्थों में हमें साधना या आत्मशोधन की प्रक्रिया पर ही अधिक बल मिलता है, उपासना या भक्ति का तत्त्व उनके लिए प्रधान नहीं रहा। जैनधर्म भी श्रमणपरम्परा का धर्म है। इसलिए उसकी मूल प्रकृति में स्तुति का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। जब जैन परम्परा में आराध्य के रूप में महावीर को स्वीकार किया गया, तो सबसे पहले उन्हीं की स्तुति लिखी गयी, जो कि आज भी सूत्रकृतानुसूत्र के छठे अध्याय के रूप में उपलब्ध होती है। सम्भवतः जैनधर्म के स्तुतिपरक साहित्य का प्रारम्भ इसी 'वीरत्थुइ' से है। वस्तुतः इसे भी स्तुति केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि इसमें महावीर के गुणों एवं उनके व्यक्तित्व के महत्त्व को निरूपित किया गया है। इसमें स्तुतिकर्ता महावीर से किसी भी प्रकार की याचना नहीं करता।

उसके पश्चात् स्तुतिपरक साहित्य के रचना-क्रम में हमारे विचार से "नमुत्थुण" जिसे 'शक्रस्तव' भी कहा जाता है, निर्मित हुआ होगा। वस्तुतः यह अहंत् या तीर्थंकर की बिना किसी व्यक्ति-विशेष का नाम निर्देश किये सामान्य स्तुति है जहाँ सूत्रकृतानुसूत्र की 'वीरत्थुइ' पद्यात्मक है, वहाँ यह गद्यात्मक है। दूसरी बात यह कि इसमें अहंन्त को एक लोकोत्तर पुरुष के रूप में ही चित्रित किया गया है; 'वीरस्तुति' में केवल कुछ प्रसंगों को छोड़कर सामान्यतया महावीर को लोक में श्रेष्ठतम व्यक्तिके रूप में प्रस्तुत किया गया है, लोकोत्तर रूप में नहीं। यद्यपि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वर्णित उनके जीवनवृत्त की अपेक्षा इसमें लोकोत्तर तत्त्व अवश्य ही प्रविष्ट हुए हैं।

हमें तो ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में 'वीरत्थुइ' के रूप में 'पुच्छिसुण' और 'देविदत्थओ' रूप में 'नमुत्थुण' ही रहे होंगे। क्योंकि 'देविदत्थओ' का भी एक अर्थ देवेन्द्र के द्वारा की गयी स्तुति होता है, 'नमुत्थुण' को जो शक्रस्तव' कहा जाता है, वह इसी तथ्य की पुष्टि करता है। स्तुतिपरक साहित्य में इन दोनों के पश्चात् 'चतुर्विंश-तिस्तव' (लोगस्स-चोवीसत्थव) का स्थान आता है। लोगस्स का निर्माण तो चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा के साथ ही हुआ होगा। 'वीरत्थुइ' और 'नमुत्थुण' में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ इन दोनों में भक्त हृदय अपने आराध्य के गुणों का स्मरण करता है, उससे किसी प्रकार की लौकिक या आध्यात्मिक अपेक्षा नहीं करता है जबकि "चौवीसत्थव" के पाठ में सर्वप्रथम भक्त अपने कल्याण की कामना के लिए आराध्य से प्रार्थना करता है कि हे तीर्थंकर देवों ! आप मुझ पर प्रसन्न हों तथा मुझे आरोग्य, बोधिलाम तथा सिद्धि प्रदान करें। सम्भवतः जैन स्तुतिपरक साहित्य में यहीं सबसे पहले उपासक हृदय याचना की भाषा का प्रयोग करता है।

प्रो० सागरमल जैन : सुभाष कोठारी



## तेरापन्थ का राजस्थानी साहित्य (२)

□ मुनि सुखलाल

आचार्य भिक्षु के बाद तेरापंथ की साहित्य-परम्परा को उज्जीवित रखने वाले आचार्यों में पहला नाम चतुर्थ आचार्य जयाचार्य का है। उनके साहित्य-लेखन की भी अनेक विधाएँ हैं। संस्मरण साहित्य की दृष्टि से जहाँ 'भिक्षु दृष्टांत' राजस्थानी का प्रथम कोटि का ग्रन्थ है वहाँ परिमाण की दृष्टि से 'भगवती की जोड़' संभवतः राजस्थानी का सर्वतोबृहद् ग्रन्थ है। अकेली भगवती की जोड़ का पद्य-परिमाण ४० हजार है।

जयाचार्य भी आचार्य भिक्षु की ही तरह एक सहज कवि थे। दिमाग को कुचर-कुचर कर लिखने का उनका स्वभाव नहीं था। उनकी लेखनी अजस्र धाराप्रवाह रूप में चलती रहती थी। उनकी पद्य रचनाएँ भी एक प्रकार से आशु कविताएँ हैं। वे पद्य बोलते जाते थे और कुछ लोग बिना दोहराए उन्हें निरंतर लिखते चले जाते थे। उनके भक्तिगीत तथा अध्यात्म-पद बहुत ही भावपूर्ण हैं। मानस-चित्रण के साथ-साथ प्रकृति-चित्रण में भी वे एक बेजोड़ कवि थे। उनकी अनुवाद क्षमता तो अप्रतिम थी। संस्कृत-व्याकरण तथा दर्शन जैसे दुरूह विषयों को भी पद्य में बाँध कर उन्होंने अपनी अपार मेधा का परिचय दिया है। आत्म-प्रबोध के रूप में लिखी गई उनकी कविताएँ भी अनुपम हैं। उनका कथा रत्न कोष तो न केवल एक आकर ग्रन्थ ही है अपितु राजस्थानी कथा-साहित्य का अक्षय खजाना होने के साथ-साथ भाषा विकास की दृष्टि से भी एक अमूल्य कृति है। उनके अकेले साहित्य पर कई लोग अपने शोध-प्रबन्ध लिख सकते हैं। श्रद्धा और तर्क का उनके साहित्य में अद्भुत संमिश्रण है। उनके साठे तीन लाख पद्य-परिमाण साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया सकता है।

### आगम-भाष्य

- |                         |                      |
|-------------------------|----------------------|
| १. भगवती की जोड़        | ७. पन्नवणा री जोड़   |
| २. उत्तराध्ययन की जोड़  | ८. चौरासी आगमाधिकार  |
| ३. आचारांग रो टब्बो     | ९. ज्ञाता री जोड़    |
| ४. आचारांग री जोड़      | १०. निशीथ री हुंडी   |
| ५. निशीथ री जोड़        | ११. वृहकल्प री हुंडी |
| ६. अनुयोग द्वार री जोड़ | १२. व्यवहार री हुंडी |
|                         | १३. भगवती री—        |

## तत्त्व-दर्शन

१. भीषी चर्चा
२. भीषी ज्ञान
३. शीषी चर्चा रा बोल
४. भिक्षु पृच्छा
५. परचूनी बोल
६. संजया री जोड़
७. नियंढा जोड़
८. महाव्रत-अणुव्रत ना भांगा
९. चर्चा रत्न माला
१०. भिक्षु कृत हुंडी री जोड़
११. भ्रम-विध्वंसन
१२. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध
१३. जिनाज्ञा मुख मंडन
१४. कुमति विहंडन
१५. संदेह विषौषधि
१६. प्रश्नोत्तर साधंशतक
१७. दीर्घ सिद्धान्तसार
१८. लघु सिद्धांतसार

## संस्मरण

१. भिक्षु दृष्टांत
  २. हेम दृष्टांत
  ३. श्रावक दृष्टांत
  ४. दृष्टांत
  ५. भिक्षु दृष्टांत की जोड़
- साधना
१. आराधना
  २. छोटी ध्यान
  ३. बड़ी ध्यान
- न्याय
- नयचक्र की जोड़
- जीवनियां
१. भिक्षु जश रसायण
  २. लघु भिक्षु जश रसायण

## आख्यान

१. ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती
२. खंधक संन्यासी
३. जमाली
४. महाबल चरित्र
५. पार्श्वनाथ चरित्र
६. अभ्यंगसेन
७. मंगल कलश
८. रत्नचूड
९. महीपाल चरित्र
१०. सुरमुन्दरी खदन्ती
११. मोहजीत राजा
१२. दीपजश रसायण
१३. जयजशकरण रसायण
१४. गुण सुंदर शील मंजरी
१५. सीतेन्द्र
१६. धनजी
१७. यशोभद्र
१८. भरत बाहुबली
१९. व्याघ्रक्षत्री (अपूर्ण)
२०. उज्ज्वला ( " )

## स्तुति काव्य

१. संत गुणमाला
  २. शासन विलास
  ३. छोटी चौबीसी
  ४. बड़ी चौबीसी
  ५. भिक्षु गणी गुण वर्णन
  ६. भारीमाल गुणी गुण वर्णन
  ७. संत गुण वर्णन
  ८. सती गुण वर्णन
  ९. जिनशासन महिमा
  १०. आर्या दर्शन री चोपई
  ११. रायचंद गणी गुणवर्णन
- विधान-मर्यादा
१. लिखतां री जोड़
  २. बड़ी मर्यादा

३. ऋषिराय सुजश
४. ऋषिराय पंच ढालियो
५. सतजुगी चरित्र
६. हेमनवरसो
७. हेम चोढालियो
८. स्वरूप नवरसो
९. स्वरूप विलास
१०. भीम विवास
११. मोतीजी रो पंचढालियो
१२. शिवजी रो चोढालियो
१३. कर्मचंद गीतिका
१४. शांति विलास
१५. उदयचंदजी रो चोढालियो
१६. हरख चोढालियो
१७. हस्तूजी-कस्तूजी रो चोढालियो
१८. सरदार सुजश

#### व्याकरण

१. पंचसंघि की जोड़
२. आख्यात की जोड़
३. साधनिका

३. गणपति सिखावण
  ४. छोटी मर्यादा
  ५. सिखावण री चोपई
  ६. परम्परा री जोड़
  ७. मोछब री ढालां
  ८. टालोकरां री ढालां
  ९. टहुको
  १०. परम्परा रा बोल (सेज्यातर आदि)
  ११. परम्परा रा बोल (गोचरी संबंधी)
  १२. गण विशुद्धिकरण हाजरी
  १३. लघुरास
- न्याय  
नय चक्र जोड़

#### उपदेश

१. उपदेश की चोपई
२. उपदेश कथा रत्नकोश

इस तरह जयाचार्य ने तेरापंथ के साहित्य में जबरदस्त अभिवृद्धि की। उन्होंने बहुत छोटी अवस्था में ही लिखना शुरू कर दिया तथा अंत में तो संघ-व्यवस्था से मुक्त होकर ध्यान-स्वाध्याय तथा साहित्य-निर्माण के लिए ही अपने को खपा दिया। उनका शासन काल तेरापंथ का स्वर्णिम काल है। साहित्य-निर्माण की दृष्टि से भी उन्होंने भारी प्रयत्न किया है।

जयाचार्य के बाद आचार्य-परम्परा में साहित्य वृद्धि का क्रम बढ़ाने वालों में मधवागणी एवं माणकगणी का नाम आता है। पर वह क्रम पूर्वाचार्यों की जीवनी लेखन तथा कुछ ढालों-चोपाइयां तक ही सीमित रहा। वर्तमान आचार्य तुलसी ने इस दिशा में कुछ नई जमीन तोड़ी है। आपने हिन्दी संस्कृत में तो प्रभूत साहित्य लिखा ही है, पर राजस्थानी में आपके द्वारा निर्मित ग्रन्थों की एक लम्बी सूची है, वह इस प्रकार है—

१. माणक महिमा
२. ढालिम चरित्र
३. कालूयशोविलास
४. मगन चरित्र

५. मा बदनां
६. नंदन निकुंज
७. सोमरस
८. चंदन की चुटकी भली
९. शासन-संगीत ।

आप द्वारा निर्मित ग्रंथ केवल जीवनियां ही नहीं हैं अपितु इतिहास के साथ-साथ उनमें साहित्यिक शिल्प भी है। इस दृष्टि से कालूयशोविकास तो संभवतः आधुनिक राजस्थानी की एक शिरमोड कृति कही जा सकती है।

किसी ने ठीक ही कहा है—अंधकार है तहां जहां आदित्य नहीं है।

मुर्दा है वह देश जहां साहित्य नहीं है ॥

यह बात सम्प्रदायों के प्रति भी इसी तरह लागू होती है। जिस सम्प्रदाय का अपना पुष्ट साहित्य नहीं होता वह अपने आधार भूत सत्यों की सुरक्षा नहीं कर सकता। साहित्य युग-चेतना का प्रहरी तो होता ही है, पर वह संस्कृति और सभ्यता का सजग प्रहरी भी होता है। इस दृष्टि से तेरापंथ के संतों ने भी साहित्य की श्री वृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उस कड़ी में सबसे पहले नाम है मुनिश्री वेणीरामजी तथा मुनिश्री हेमराजजी के। मुनिश्री हेमराजजी तो एक बहुत ही क्रांतद्रष्टा व्यक्ति थे। जयाचार्य को आचार्य भिक्षु के संस्मरणों को लिखने की प्रेरणा उन्हीं से मिली थी। उन्हींने स्वयं भी आचार्य भिक्षु का जीवन चरित लिखा है।

मुनिश्री वेणीरामजी एक भक्त हृदय संत थे। आचार्य भिक्षु के साथ उनके तादात्म्य ने उनसे उनका (आचार्य भिक्षु का) जीवन चरित्र लिखवाया है। यद्यपि यह चरित परिमाण में बहुत छोटा है, पर इसकी वर्णन शैली इतनी सजीव है कि वह एक अमूल्य कृति बन जाती है।

ये दोनों ही संत आचार्य भिक्षु के युग में हुए थे।

उनके बाद द्वितीय आचार्य श्री भारमलजी के शासन काल में मुनिश्री कर्मचंदजी, और मुनिश्री जीवोजी का नाम आता है। मुनिश्री कर्मचंदजी का 'ध्यान' तो उपलब्ध होता ही है जो ध्यान साहित्य में अपना महत्त्व रखता है पर उनकी विशिष्ट ढालों का एक संग्रह भी उपलब्ध है जिसकी पद्य संख्या ८५ है।

मुनिश्री जीवोजी ने अनेकानेक आचार्यों तथा साधु-साध्वियों के गुणों की अनेक गीतिकाएं तो लिखी ही है पर उन्हींने शासन-विलास, भिक्षु दृष्टांतों की जोड़ के अतिरिक्त ग्यारह आगमों पर जोड़ें की हैं। इनके साहित्य का पद्य-परिमाण लगभग १० हजार पद्य होता है।

तृतीय आचार्य रायचंदजी द्वारा दीक्षित मुनिश्री गुलहजारी जी तथा मुनिश्री कालूजी की अपनी एक साहित्यिक देन रही है। मुनिश्री गुलहजारीजी की कुछ गीतिकाएं आज भी उपलब्ध हैं।

मुनिश्री कालूजी एक कथाकार संत थे। उन्हींने अनेक कथाओं की न केवल रचना की पर उन्हें भाषा का भी परिधान दिया। इसके अतिरिक्त उन्हींने ही तेरापंथ

के इतिहास (ख्यात) का महत्त्वपूर्ण का लेखन शुरू किया था। उनके द्वारा लिखी हुई ख्यात अनेक दृष्टियों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आप द्वारा लिखित तेजसार का व्याख्यान पखवाड़ा तथा 'विमल विवेक विचार' आदि रचनाएं आज भी संघीय साहित्य के गौरव को बढ़ा रही है।

चतुर्थाचार्य जयाचार्य के समसामयिक मुनिश्री छोगजी की जय छोग सुजना विलास कृति उपलब्ध है। इस कृति में जयाचार्य की सं० १९२७ की लाडनू से जयपुर और जयपुर से पुनः लाडनू तक की यात्रा का तथा जयपुर-प्रवास का बड़ा ही हबहू आंखों देखा वर्णन है।

फिर हम कालूगणी के जमाने में आए तो देखेंगे कि मुनिश्री चांदमलजी के साहित्य में शुद्ध काव्य तत्त्व हैं। उनके डिगलपिगल तथा चित्रबद्ध छंद सचमुच में पाठक को चकित करने वाले हैं। मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री सोहनलाल जी आदि संतों ने भी प्रभूत साहित्य लिखा है। मुनिश्री नथमलजी ने स्तुतियों तथा व्याख्यानों की सुघड़ के रूप में २८६१२ पद्य परिमाण रचना की हैं तो मुनिश्री सोहनलाल जी ने डिगलपिगल आदि में उनके पुस्तकों लिखी है। उनकी प्रकाशित पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं : १, स्वर्ण कलश २ सोहन काव्यामृत ३ सोहन के सुनहले व्याख्यान ४ सोने के पासे ५ सोने की सुगन्ध ६ सोहन के सुरीले स्वर ७ सोहन संगीत ८ महाबल मलया सुन्दरी आदि २ कुछ साहित्य अप्रकाशित है। मुनिश्री सोहनलालजी अपने जमाने के प्रसिद्ध संत-साहित्यकार रहे हैं। उनके छंदों का, सोहन भनंत का ट्रेडमार्क अभी भी लोगों के कानों में गूँज रहा है। उनका भक्ति रस भी अनूठा था। सेवाभावी मुनिश्री चंपालाल जी के भक्तिकाव्य भी अनूठे हैं।

□□

इहैर में महान तान मान को वितान छायायो,  
 ठोर-ठोर में न आज हर्ष को प्रमान है।  
 'कालू' भगवान सो निधान ज्ञान,  
 दैवत समूह च्यार तीरथ सुजान है ॥  
 अमृत समान वान झड़ी बरसाय रहे,  
 ऐसो दरबार तो मिलै न ठोर आन है।  
 'सोहन' भनंत जरा ध्यान से निहारो भव्य,  
 ओ नगर 'जोधान' है कि इन्द्र को विमान है ॥

□ 'स्वर्ण कलश' से

## तेरापन्थ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास (२)

### □ मुनिश्री गुलाबचंद्र “निर्मोही”

महाकाव्यः—महाकाव्य का शास्त्रीय लक्षण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। लक्ष्यके आधार पर लक्षण की कल्पना की जाती है—इस नीति के अनुसार बाल्मीकि रामायण तथा कालिदास के महाकाव्यों का विश्लेषण करने से आलोचकों ने महाकाव्य के शास्त्रीय रूप का अनुगमन किया तथा आलंकारिकों ने अपने अलंकार ग्रन्थों में उसके लक्षण प्रस्तुत किए। आलंकारिकों में दण्डी सबसे अधिक प्राचीन माने जाते हैं। उनके अनुसार महाकाव्य की रचना सर्गों में की जाती है। उनमें एक ही नायक होता है। वीर, शृंगार या शांत—इनमें से कोई एक रस प्रधान होता है और अन्य रस गौण रूप में समाविष्ट होते हैं। कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है अथवा किसी का चरित वर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है पर सर्ग के अन्त में वृत्त बदल जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए और न बहुत छोटे। सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए और प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिए। वृत्त को अलंकृत करने के लिए संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, अन्धकार, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है। बीच-बीच में वीर रस के प्रसंग में युद्ध, मन्त्रणा आदि का भी यथेष्ट वर्णन रहता है। महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय की विजय तथा अधर्म और अन्याय की पराजय होना चाहिए।

संस्कृत भाषा में काव्य का प्रारम्भ बाल्मीकि से हुआ। रामायण को संस्कृत भाषा का आदि महाकाव्य माना जाता है। क्रमशः वह परम्परा विकसित होती गई और कालिदास, अश्वघोष, आर्यशूर, भारवि, कुमार दास, प्रवरसेन, माघ, हर्ष, बाण आदि मूर्धन्य काव्यकारों ने उसे गौरवान्वित किया। उनके काव्य ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठ निधि माने जाते हैं।

जैन मनीषियों ने भी संस्कृत भाषा में काव्य रचना के द्वारा अपनी प्रतिभा का पर्याप्त चमत्कार प्रस्तुत किया है। काव्य के लिए संस्कृत भाषा का प्रयोग करने वाले जैन विद्वानों में समन्तभद्र का नाम अग्रणी माना जाता है। उन्होंने अनेक स्तोत्र काव्यों की रचना की। यह क्रम विकसित होता हुआ क्रमशः सातवीं शताब्दी तक चरित काव्य और महाकाव्यों में वरांगचरित, चंद्रप्रभ चरित, वर्धमानचरित, पार्श्वनाथ चरित, पद्मचरित, शान्तिनाथ चरित, धर्मशर्माभ्युदय, नेमीनिर्वाण काव्य, पद्मानन्द

महाकाव्य, भरत बाहुबलि महाकाव्य, जैन कुमार संभव, यशोधर चरित्र, पांडवचरित्र, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि की गणना प्रमुख रूप से की जा सकती है ।

महाकाव्यों की यह परम्परा बीसवीं शताब्दि में और अधिक वृद्धित हुई । तेरापन्थ धर्म संघ में इस दिशा में एक नया उन्मेष आया और विगत दशकों में जो काव्य रचना हुई उसमें दो महाकाव्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१. श्री भिक्षु महाकाव्यम् ।
२. श्री तुलसी महाकाव्यम् ।

श्री भिक्षुमहाकाव्यम् मुनिश्री नथमल 'नागौर' द्वारा रचित तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु के जीवन दर्शन पर प्रकाश डालने वाला चरित महाकाव्य है । इसकी शैली पद्यात्मक है । काव्यकार स्वयं प्रौढ़ संस्कृतज्ञ होने के कारण इसकी शब्द संकलना भी प्रौढ़ और भावपूर्ण है । राजस्थान की अरावली की घाटियों का वर्णन इसमें बहुत सजीव और प्राणवान है । महाकाव्य के लक्षणों से यह परिपूर्ण है । इसके १८ सर्ग हैं । इसकी यथेष्ट प्रसिद्धि और पठन-पाठन न होने का मुख्य कारण यही है कि यह काव्य अब तक अप्रकाशित है । इसकी रचना तेरापन्थ द्विशताब्दी के अवसर पर वि० सं० २०१७ में हुई थी ।

श्री तुलसी महाकाव्यम् पं० रघुनन्दन शर्मा आयुर्वेदाचार्य की काव्य कृति है । इसमें आचार्य श्री तुलसी के जीवन दर्शन का समग्रता से विश्लेषण हुआ है । तेरापन्थ के संघाधिनायक के रूप में आचार्य श्री के यशस्वी जीवन के पचीस वर्षों की परिसम्पन्नता पर श्रद्धालुओं ने अपना शक्ति भर अर्घ्य चढ़ाया । पंडितजी की प्रस्तुत कृति उसी अर्घ्य प्रस्तुतीकरण का एक अंग है ।

पंडितजी में कवित्व की अद्भुत क्षमता थी । कविता उनकी सहचरी के रूप में नहीं, अपितु अनुचरी के रूप में प्रकट हुई—इस प्रतिपत्ति में विसंगति का लेश भी नहीं है । अत्यन्तऋजु और अकृत्रिम व्यक्तित्व के धनी पंडितजी में एक छलांग में ही महाकाव्य के गगन स्पर्श प्रासाद पर आरूढ़ होने की क्षमता थी । पंडितजी प्रचलन कवियों में से एक थे । वे ख्याति और प्रसिद्धि से विरत थे । अतः उनकी विशेषताएं प्रचलन ही रहीं । यदि वे प्रकट होतीं तो संभवतः संस्कृत विद्वान् के रूप में उन्हें राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त होता । प्रस्तुत काव्य में रस, अलंकार, भाव, भाषा आदि सभी दृष्टियों से पंडित जी के वैदग्ध्य की स्पष्ट झलक है । उन्होंने आधुनिक शब्दों, रूपकों और उपमाओं का प्रयोग करके संस्कृत भाषा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया है । पंडितजी की शब्द संरचना प्रसाद गुण संवलित है । पंडितजी जन्मना आशु कवि थे । अतः उन्हें सहज और सानुप्रास काव्य रचना का अभ्यास था । गंभीर और गूढ़ भावों को सरस और सरल पदावली में रखने की उनकी अद्भुत क्षमता थी । उनकी यह विशेषता इस महाकाव्य में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है । पंडितजी की कल्पनाप्रसू संगीति का सहारा पाकर वस्तु सत्य वास्तव में ही वस्तुसत्य के रूप में उभरा है । आचार्यश्री कालूगणी के स्वर्गवास के समय गंगापुर का चित्रण, कवि की उसी मौलिक विशेषता की एक झलक है—

गंगापुरं गहन शोक-समुद्रमग्नं,  
 कस्यापि कुत्रचन काव्यभवन्न पृच्छा ।  
 माता स्वपुत्रमनुजं निजमेव बन्धुः,  
 पत्नी च विस्मृतवती स्वपतिन्तदानीम् ॥

सीमन्तिनी प्रथममेव तथाञ्जयित्वा,  
 नाक्षि द्वितीयमलमंजयितुं बभूव ।  
 क्षौराद्धर्मणि करादपि नापितस्य,  
 क्षित्यां क्षुरं निपतितं निशितं त्वरेव ॥

ग्रासार्पणाय मुखमध्यमधि प्रविष्टा,  
 हस्तांगुली बहिस्पेतु ममूदनर्हा ।  
 ग्रासोप्यधो न पतितो गलतो बुभुक्षोः,  
 कोलाहले सति दिदो गमनस्य कालोः ॥

बैद्यो गृहीत धमनिर्गद पीडितस्य,  
 रोगं परीक्षितु मभूच्चकितो न शक्तः ।  
 निर्मायमाण कविताऽन्तिमपद्यपूर्ति,  
 चक्रे न भिन्नहृदयः कविपुंगवोऽपि ॥

जज्वाल भोजनकृते ज्वलनो न गेहे,  
 घासं जघास न गवां समजः क्षुधार्तं ।  
 शाखिस्थिताः शकुनयो रूर्ध्वविशेषात्,  
 स्वर्गागणं प्रविशति प्रकटं मुनीशे ॥

शब्द और साहित्य भिन्न-भिन्न है। साहित्य की तुट मिलने से ही शब्द में सजीवता आती है। साहित्य के अभाव में केवल शब्द रूक्ष भोजन के समान है। कवि ने इस तथ्य को अत्यन्त प्रांजल भाषा में व्यक्त करते हुए लिखा है—

शब्दानपि व्याकरणेन शुद्धान्  
 छन्दोविधानादपि पद्यलग्नान् ।  
 शुष्काशनानीव सदात्यरुध्यान्,  
 साहित्यसर्पी रुचिरान् करोति ॥

सृष्टि में अनेक प्रकार की विचित्रतायें हैं। कहीं चाहने पर भी कुछ नहीं मिलता और कहीं न चाहने पर भी बहुत कुछ मिल जाता है। कवि ने इस तथ्य को प्रकट करते हुए कहा है—

मुक्तां शुभितर्नयति जलदात ऋन्दनादि विनैव ।  
 यांचां कुर्वन् मधुरवचसाप्येकाबिन्दु पिको न ॥

प्रस्तुत गृहाकाव्य के पचीस सर्ग हैं जिनकी रचना वि० सं० २०१६ में धवल समारोह के अवसर पर हुई। इनमें स्थान-स्थान पर कवि के उत्कृष्ट शब्द शिल्पित्व का चित्र प्रस्तुत होता है। आचार्यश्री का जन्म, जो जागतिक अछयात्तम अभ्युदय की एक



उल्लेखनीय घटना थी, का बहुत ही भावपूर्ण शब्दों में चित्रण किया गया है। इसके अध्ययन से जीवन दर्शन, तत्त्वदर्शन, इतिहास एवं परम्पराओं का समीचीन बोध होता है। इसका हिन्दी अनुवाद श्री छगनलाल शास्त्री ने किया है।

### खण्ड काव्य (गद्य-पद्य)

संस्कृत साहित्य के प्रति कुछ पश्चिमी समालोचकों का एक विशेष आरोप रहा है कि यह साहित्य नितान्त अलंकारपूर्ण और कृत्रिम है। उनकी आलोचनाओं से लगता है कि संस्कृत की नैसर्गिकता से वे परिचित नहीं हैं। कठिनाई यह है कि उनकी आलोचना को कुछ भारतीय समालोचकों ने भी प्रमाण मान लिया। यही कारण है कि भारतीय मानस में संस्कृत का जितना ग्रहण होना चाहिए उतना नहीं हो पा रहा है। वास्तविकता यह है कि संस्कृत भाषा के काव्यों में हृदय के भावों की उतनी ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है, जितनी किसी भी प्रौढ़ साहित्य के मान्य काव्यों में हो सकती है। संस्कृत के प्राचीन कवियों के काव्यों में यह सहज स्वाभाविकता है। वे सही अर्थ में मानव हृदय के पारखी थे। अपनी अनुभूति की अभिव्यंजना के लिए ही उन्होंने इस रसमयी पद्धति का आश्रय लिया। बाल्मीकि तथा व्यास पर, कालिदास तथा अश्वघोष पर कृत्रिम कविता लिखने का आरोप कोई भी समझदार आलोचक नहीं लगा सकता। निष्कर्ष यह है कि संस्कृत भाषा संसार की अन्य भाषाओं की तुलना में श्रेष्ठ है। इसका साहित्य समग्र सभ्य साहित्यों में प्राचीन, व्यापक और सुन्दर है।

महाकाव्यों की परम्परा के समानान्तर खण्ड काव्यों की परम्परा भी बहुत प्राचीन रही है। गद्य और पद्य—दोनों ही शैलियों में इनकी रचना हुई है। जैन आचार्यों और विद्वानों ने भी इस परंपरा को पर्याप्त विकसित किया है। विगत दशकों में तेरापन्थ धर्म संघ में भी इस काव्य परंपरा का इतिहास बहुत वर्धमान रहा है। अश्ववीणा, रत्नपाल चरित्रम्, प्राकृत काश्मीरम् आदि काव्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

“अश्ववीणा” युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा मन्दाक्रांता छन्द में रचित सौ श्लोकों का एक खण्ड काव्य है। यह काव्य भर्तृहरि आदि विश्रुत कवियों द्वारा रचित शतक काव्यों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में सक्षम है। इस काव्य में एक ओर जहाँ शब्दों का वैभव है, वहाँ दूसरी ओर अर्थ की गंभीरता है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों एक दूसरे से बढ़े-चढ़े हैं। काव्यानुरागियों, तत्त्वजिज्ञासुओं तथा धर्म के रहस्य को प्राप्त करने की आकांक्षा वालों के लिए यह समान रूप से समाहरणीय है। इस काव्य की कथावस्तु जैन आगमों से ग्रहण की गई है। भगवान् महावीर ने तेरह बातों का घोर अभिग्रह धारण किया था। वे घर-घर जाकर भी भिक्षा नहीं ले रहे थे क्योंकि अभिग्रह पूर्ण नहीं हो रहा था। उधर चंदनवाला राजा की पुत्री होकर भी अनेक कष्ट पूर्ण स्थितियों में से गुजर रही थी। उसका शिर मुंडित था। हाथों-पैरों में जंजीरें थीं। तीन दिनों की भूखी थी। छाज के कोने में उबले हुए उड़द थे। इस प्रकार अभिग्रह की अन्य सारी बातें तो मिल गईं किन्तु उसकी आंखों में आंसू नहीं थे। महावीर उस एक बात की कमी देखकर वापस मुड़ गए। चन्दनवाला का हृदय दुःख से भर गया। उसकी आंखों में

अश्रुधारा बह चली । उसने अपने अश्रु-प्रवाह को दूत बनाकर भगवान् को अपना सन्देश भेजा । भगवान् वापस लौटे और उसके हाथ से उड़द ग्रहण किए । अश्रुप्रवाह के माध्यम से चन्दनबाला का संदेश ही प्रस्तुत काव्य का प्रतिपाद्य है । कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य में मेघ को यक्ष का दूत बनाकर भेजा और अश्रुवीणा में अश्रुप्रवाह को चन्दनबाला का दूत बनाया गया है । चन्दनबाला अपने सन्देश में कहती है—

धन्याः निद्रा स्मृति-परिवृढं निहनुते या न देवं,  
 धन्याः स्पन्नाः सुचिरमसकृद ये च साक्षान्नयन्ते ।  
 जाग्रन्कालः पलमपि न वा त्वां च सोढुं सहोऽभू,  
 च्छुलाध्योऽश्लाध्यः क्वचिदपि न वैकान्तवृष्ट्या विचार्यः ॥  
 आंसुओं को सम्बोधित करते हुए चन्दनबाला कहती है—  
 दृश्यं पुण्यं चरित सततं पादचारेण सोऽयं,  
 तस्माद् भूमि सरत पुरतः पादयोर्नृत्यताऽपि ।  
 संश्लिष्यन्तो हृदय गहन स्पर्शभावान् सजीवान्,  
 मागर्गन्नाति व्रजति स यतस्तत्क्षणाद्रान् सजीवान् ॥

प्रस्तुत काव्य का पारायण करने से ऐसा लगता है मानो हृदय के सजीव भावों का योग पाकर शब्द भी सजीव बन गए हों । संस्कृत साहित्य की गरिमा के सन्धान में यह काव्य महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्माण करेगा, ऐसा विद्वानों ने मुक्त भाव से स्वीकार किया है । इसकी रचना वि० सं० २०१६ में कलकत्ता-प्रवास के अवसर पर हुई ।

‘रत्नपाल चरित्रम्’ जैन पौराणिक आख्यान पर युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा रचित पद्यमय खण्डकाव्य है । पांच सर्गों में निबद्ध प्रस्तुत काव्य में कथानक की अपेक्षा कल्पना अधिक है । कल्पना काव्य का आभूषण है । किंतु उसकी भी एक मर्यादा है । कल्पना का अर्थ है—अनुभूति के प्रकाशन में सहायता देना । कभी-कभी कवि कल्पना को इतनी अधिक प्रधानता दे देता है कि काव्य का मूल भाव गौण हो जाता है । ऐसी कल्पना हृदय में रस-संचार नहीं करती । प्रस्तुत काव्य में कल्पना को इतना महत्त्व नहीं दिया गया है जिससे भाव गौण हो जाए । वस्तुतः कल्पना के लिए किसी प्रकार का कृत्रिम प्रयास नहीं है । वह सहज और वास्तविकता से अनुस्यूत है । रत्नवती रत्नपाल की खोज में जंगल में घूमती हुई वृक्षों, लताओं, फूलों आदि से बात करती हुई कहती है—

सहकार ! त्वं भव सहकारी,  
 कामित निष्पत्तो संपन्नः ।  
 कलरव मासादयति त्वत्तः,  
 पिको न किं पतिमपि लप्स्येहम् ॥  
 नाशोकां कुरुषे किमशोक !,  
 मां च सशोकां प्रिय विरहेण ।  
 लज्जास्पद मपि भवितः सद्यो,  
 नाम तदेवं गुणशून्यत्वात् ॥

विस दृशकण्टकयोः समकालं,  
 प्राप्तजन्मनो निदर्शनेन  
 भाग्य विविधितां सूचयसि त्वं,  
 किं न तथा मम पतिमपि बवरि ॥

इस प्रकार समग्र काव्य में कल्पनामयी कथा प्रसूत है। सहज शब्द विन्यास के साथ भाव-प्रवणता को लिए प्रस्तुत काव्य संस्कृत भारती को गरिमान्वित करने वाला है। इसकी संपूर्ण वि० सं० २००२ में श्रावण शुक्ला ५ के दिन श्री डूंगरगढ़ में हुई थी। इसका हिन्दी अनुवाद मुनिश्री डुलहराज द्वारा किया गया है।

‘प्राकृत काश्मीरम्’ पं० रघुनन्दन शर्मा द्वारा कश्मीर के प्रकृति चित्रण का शतक काव्यों की परंपरा में एक परिपूर्ण खण्ड काव्य है। पंडितजी पर वाग्देवी का वरद हस्त जन्म से ही था जो आशु कवित्व के रूप में निरन्तर गुणगुनाता रहता था। एक बार वे कश्मीर गए। कश्मीर का सौंदर्य जगप्रसिद्ध है। प्रकृति ने जी भर कर वहां के अणु-अणु में बहुरंगी चित्रों का निर्माण किया है। वहां के गगन स्पर्शी गिरिशृंगों कलकल करती सरिताओं, विशाल झीलों, कोमल लताओं और सौरभ भरे सुमनों में कवि-हृदय को उद्बुद्ध एवं उत्प्रेरित करने की अद्भुत क्षमता है। यही कारण है कि भारतीय वाङ्मय में कश्मीर के सौंदर्य चित्रण की अनेक उत्तम कृतियां उपलब्ध हैं। प्रस्तुत काव्य के अध्ययन से दूरस्थ व्यक्ति परोक्षतः भी प्रत्यक्षदर्शी की तरह आनन्द प्राप्त कर सकता है। कवि ने प्राचीन और अर्वाचीन का समीचीन सामंजस्य स्थापित किया है। अमर नाथ के नीचे से बढ़ती हुई अमरावती नदी को नटिनी की उपमा देते हुए कवि ने लिखा है—

राजीव शुभ्रवसना कुहचित् तुषारै,  
 यूरोपयोषिदुपमा क्वचिदवर्ध नगना ।  
 नगना कुहाप्युभयतो वनमानुषीव,  
 नेत्यल्पतामुपगता तटिनी नटीतः ॥

काव्य में कल्पना माधुर्य भी भरा पड़ा है, इस संबंध में कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं—

पंकाकुलां कमलिनीं मलिनां द्विरेफो,  
 नोपेक्षते बहुविषयपि लोलुपो यम् ।  
 तद् भेक्षयवृत्तिमधुना घृणितां विधाय,  
 हा ! कण्टकं किरति वर्त्मनि सन्मुनीनाम् ॥  
 एकाकिनो कमलिनी स्वपत्नौ वियुक्ते,  
 नो भाषते न हसति प्रणिमीलिताक्षी ।  
 निदन्तु के न भनुजामपि तां नितान्तं,  
 या प्रोषिते निजजने रमते परेषु ॥

कवि ने अपनी रचना में विलष्ट शब्दों का प्रयोग न करके लोक प्रचलित सरल

शब्दों का प्रयोग किया है ताकि पढ़ने मात्र से उसका तात्पर्य पाठक को आत्मसात् हो सके। इसकी रचना तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के उपलक्ष में वि० सं० २०१७ में हुई थी। इसका मूलस्पर्शी संदर्भ, व्याख्या और निष्कर्ष श्री छगनलाल शास्त्री द्वारा लिखा गया है।

खण्ड काव्यों की परम्परा में उक्त काव्यों के संक्षिप्त परिचय के अन्तर और भी अनेक काव्य हैं। जिनका परिचय अवशिष्ट रह जाता है। संस्कृत विद्यार्थियों के लिए उनके अध्ययन का स्वतंत्र महत्व है अतः उनमें से कुछ एक का नामोल्लेख करना आवश्यक और प्रासंगिक होगा।

- |                       |                                     |
|-----------------------|-------------------------------------|
| १. पाण्डव विजय        | : मुनिश्री डूंगरमल                  |
| २. रौहिणेय            | : मुनिश्री बुद्धमल्ल (निकाय प्रमुख) |
| ३. भान भास्कर काव्यम् | : मुनिश्री धनराज (लाडनू)            |
| ४. बंकचूल चरित्रम्    | : मुनिश्री कन्हैयालाल               |
| ५. अभिज्ञानम्         | : मुनि गुलाबचंद्र "निर्मोही"        |
| ६. कर्बुर काव्यम्     | : मुनिश्री मोहनलाल "शादूल"          |

प्रकीर्णक काव्यः—संस्कृत भाषा के कवियों के वर्ण्य विषय की कोई सीमा नहीं है। उन्होंने विभिन्न विषयों पर अपनी प्रतिभा का पर्याप्त प्रभुत्व छोड़ा है। उन्होंने व्याकरण को लक्ष्य कर अनेक काव्यों का प्रणयन किया है। प्रकीर्णक काव्यों की समग्र नाम शृंखला का संकलन किया जाए तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ का निर्माण हो सकता है किंतु प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य मात्र तेरापन्थ के साहित्य का दिग्दर्शन है। तेरापन्थ में प्रकीर्णक काव्यों की परंपरा बहुत लम्बी रही है। किंतु उनमें अतुलातुला, मुकुलम्, उत्तिष्ठत जाग्रत आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

तुला-अतुला युवाचार्यश्री प्रहाप्रज्ञ द्वारा समय-समय पर आशुकवित्व, समस्या पूर्ति तथा अन्य प्रकार के रचित स्फुट श्लोकों का संग्रह है। संस्कृत के क्षेत्र में आशुकवित्व और भी अधिक कठिन है। जिसका व्याकरण, कोष, छन्द शास्त्र आदि पर आसाधारण अधिकार होता है तथा जिसकी कल्पना और मेधा तीव्र और गहरी होती है वही इसमें पारगामी बन सकता है। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापन्थ धर्मसंघ के बहुश्रुत आशुकवि एवं काव्यकार हैं। उन्होंने अनेक क्लिष्ट विषयों पर आशुकविता की है और अनेक जटिल समस्याओं की पूर्ति की है। मेधावी विद्वानों ने उसकी मुक्त भाव से सराहना की है। प्रस्तुत कृति के अध्ययन से काव्य के सभी तत्त्वों का सम्यग् बोध होता है। श्रवणबेलगोल (कर्णाटक) में बाहुबलि की विशाल मूर्ति के समक्ष आशु कवित्व करते हुए कवि ने कहा है—

शक्तिर्व्यक्तिं याति बाहुद्वयेन ज्ञानालोको मस्तवस्यो विभाति ।

आलोकानां माध्यमं चक्षुरेतत्, मोहाऽभावो ध्यज्यते पुंस्कचिह्ने ॥

शक्तिः समस्ता त्रिगुणात्यिकेयं,

प्रत्यक्षभूता परिपीयतेऽत्र ।

स्फूर्ताः स्वभावाः सकलाश्च भावा,  
 सूता इहैवात्र विलोष्यमानाः ॥  
 स्वतन्त्रतायाः प्रथमोऽस्ति दीपः,  
 नतो न वा यत् स्वलितः षवचिन्न ।  
 त्यागस्य पुण्यः प्रथमः प्रदीपः,  
 परम्पराणां प्रथमा प्रवृत्तिः ॥  
 समर्पणस्याद्यपदं विभाति,  
 विसर्जनं मानपदे प्रतिष्ठम् ।  
 श्लेशशैलीं विदधत् स्वकार्ये,  
 श्लेश एष प्रतिभाति मूर्त्तः ॥

पूना की वाग्वर्धिनी सभा में “संस्कृत के मूर्धन्यविद्वानो” की एक गोष्ठी हुई। डा० एन० वारले ने आशुकविता का विषय देते हुए कहा—

समयज्ञापकं नित्यं नद्यानां हृतभूषणम्,  
 स्रग्धरावृत्त मालम्ब्य घटीयंत्रं विवर्ण्यताम् ।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने तत्काल आशुकवित् के श्लोक स्रग्धरावृत्त में बोलने प्रारंभ कर दिए।

इसी प्रकार समस्यापूर्ति के लिए एक पंक्ति दी गई—“सिन्दूरबिन्दु विधवा ललाटे।” इसकी पूर्ति करते हुए काव्यकार ने तत्काल पद्य रचना की। उदाहरण के रूप में यहां उसका एक श्लोक प्रस्तुत किया जा रहा है।

सिन्दूरबिन्दुविधवाललाटे,  
 गंगांबुगौरे कृतविदुमेप्यः ।  
 स्वरंक्तिमानं नयने मुखेऽपि,  
 द्रष्टुः स्मयः किं प्रतिबिबयेत् तत् ॥

प्रस्तुत कृति के पांच विभाग हैं। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद मुनिश्री दुलहराज ने किया है।

‘मुकुलम्’ युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा रचित संस्कृत के लघु निबन्धों का संकलन है। इसमें प्राञ्जल और प्रवाहपूर्ण भाषा में छात्रोपयोगी ४६ गद्यों का संकलन है। इसका विषय—निर्वाचन बड़ी गहराई से किया गया है। इसमें वर्णनात्मक और भावनात्मक विषयों के साथ संवेदनात्मक विषयों का भी संधान किया गया है। काव्य के आधुनिक मानदण्डों के आधार पर वर्तमान में वही काव्य प्रशस्त माना जाता है जो संक्षिप्त, प्रसाद गुणयुक्त तथा स्वल्प सामासिक पद वाला हो। मुकुलम् इस कसौटी पर खरा उतरता है। काव्यकार ने अन्तर्मन की उद्वेलना का समीचीन चित्र खींचते हुए लिखा है—“परान् वंचयितु-मर्हाभि चतुरानपि चार्हाभि विप्रतारयितुम्, परं नार्हाभि विप्रलब्धुमात्मानम्। कदा केन

खंड १८, अंक १, (अप्रैल-जून, ६२)

विप्रतारितमन्तर्मनः ? येन यद् दुराचीर्णं तेन तद् भुक्तमेव अन्तर्मनःसाक्ष्येण ।”

प्रस्तुत कृति ज्ञान और अनुभव दोनों के विकास में सहयोगी बन सकती है । इसकी रचना वि० सं० २००४ में पड़िहारा (राज०) में हुई थी । मुनिश्री दुलहराज ने इसका भाषा में अनुवाद किया है ।

उत्तिष्ठत ! जागृत ! निकाय प्रमुख मुनिश्री बुद्धमल्ल द्वारा लिखित ७१ लघु निबंधों का संग्रह है । प्रस्तुत निबंधों में दृढ़ निश्चय, अटूट आत्म विश्वास, गहरी स्पन्दन-शीलता और अप्रतिम उदारता की भावनाएं प्रस्फुटित हुई हैं । साहित्य में हृदय की आवाज होती है । अतः वह सीधा हृदय का स्पर्श करता है । कुछ मानसिक कुंठाएं इतनी गहरी होती हैं । जिन्हें तोड़ना हर एक के लिए सहज नहीं होता किन्तु साहित्य के माध्यम से वे अनायास ही टूट जाती हैं । प्रस्तुत कृति मानसिक कुंठाओं के घेरे को तोड़ कर आशा की आलोक रश्मि प्रदान करने में समर्थ बनी है । संस्कृत में गद्य काव्य को पद्य काव्य की अपेक्षा अधिक महत्व मिला है । कादम्बरी, हर्ष चरित्र, यशस्तिलक चम्पू, तिलक मंजरी तथा दशकुमार चरित जैसे प्राचीन गद्य महाकाव्यों में काव्य कौशल कम नहीं है । किन्तु काव्य की धारा सदा समान रसवाली नहीं होती । उसके मानदण्ड बदलते रहते हैं । आधुनिक युग में केवल प्रकृति, नगर, उद्यान, सरोवर, सरिता, वृक्ष आदि का वर्णन सुधी जनों को आकृष्ट नहीं करता । आज का शिक्षित मानस प्रकृति सौंदर्य की अपेक्षा वस्तुस्थिति का चित्रण अधिक पसन्द करता है । प्रस्तुत कृति में जीवन की वास्तविकता का स्पर्श हुआ है, यह इसके विज्ञपाठकों का अनुभूत तथ्य है । काव्यकार ने जीवन की वास्तविकताओं का स्पर्श करते हुए लिखा है—“असफलताया दृषदि यावत् काठिन्यं दृश्येत, न तावत् सा तद् बिभर्ति । अनवरतं प्रहरतस्ते संभवतोऽयमन्तिमः प्रहारः स्यात् । अतो युवन ! मा विरंसी : एक वारं पुनः प्रहरस्व ।”

काव्यकार ने पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हुए एक अन्य स्थान पर लिखा है—“युवक ! त्वया स्वसामर्थ्येन पूर्णतः विश्वसितेन भाव्यम् दैवसम्मुखे विनतीभूय गमनं तेषामकर्मन्यानां कार्यं विद्यते, येषां सामर्थ्येन पराजयः स्वीकृतः । युवत्वं न कदापि पराजयते, न च विवशतया नमति । अतो हि त्वं दैवस्य दासत्वं नहि, स्वामित्वं साधयित्वा जीव ।”

इसकी रचना वि० सं० २००६-७ के बीच की है । इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद मुनिश्री मोहनलाल “शार्दूल” ने किया है । दिल्ली से प्रकाशित होने वाले “साप्ताहिक हिन्दुस्तान” में ये निबंध क्रमशः प्रकाशित हो चुके हैं ।

□□

## षड् आस्तिक एवं बौद्ध दर्शनों में मान्य कर्मवाद से जैनसम्मत कर्मवाद की विशिष्टता

□ डॉ० कमला पन्त

भारतीय अध्यात्मवाद में “कर्म” (रागद्वेषादिमूलक मानसिक, वाचिक एवं कायिक चेष्टाओं) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी भारतीय दार्शनिकों ने देहेन्द्रिय, सुख-दुःख एवं विविध योनियों में जन्मादि रूप बन्ध का कारण “कर्म” को माना है। कर्म के स्वरूप में मतभेद होते हुए भी भारतीय दर्शनों में एकमत से कृतकर्मों को अनिवार्य रूप से फलदायी कहा है, चाहे कर्म स्वयं अपना फल दें या ईश्वर, अपूर्व, अदृष्ट और धर्मा-धर्म के माध्यम से फलित हों। पुण्य-पाप या शुभाशुभ दोनों कर्म मनःशुद्धि में सहायक होते हैं। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त, द्वैताद्वैत आदि दर्शनों और बौद्ध एवं जैन-परम्परा, सभी कर्मवाद के समर्थक हैं।

अन्य दर्शनों से भिन्न जैनमत में कर्म को भौतिक, पौद्गलिक या अणु रूप स्वीकार किया गया है। यद्यपि अन्य भारतीय अध्यात्मवादियों के समान जैन दार्शनिकों ने भी कर्म और जीव के सम्बन्ध के फलस्वरूप जीव के शुद्ध स्वरूप में परिवर्तन माना है, किन्तु अन्यत्र कर्म की पुद्गल के रूप में कल्पना नहीं की गयी है। संक्षेप में सांख्य की प्रकृति एवं वेदांत की माया या अविद्या जो कार्य करती हैं, जैन-दर्शन में वही भूमिका कर्मपुद्गलों की है। स्याद्वादियों के अनुसार कर्म समस्त वासनाओं का समूह या कार्मण शरीर है। कार्मण शरीर जीव के साथ रहता है। इसमें भुक्त कर्मों के पुद्गल अलग होते जाते हैं एवं उपाजित कर्मों के पुद्गल आते रहते हैं।

जैन-दर्शन की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है, आत्मा से चिपके कर्मपुद्गलों में पाप और पुण्य की अधिकता और न्यूनता के अनुसार कृष्ण, शुक्ल, पद्म, पीत आदि रंगों का समायोजन स्वीकार करना। आत्मलिप्त कर्मपुद्गलों से निकलने वाली आणविक आभा या लेश्या (रंग योजना) का अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता है। विभिन्न वैज्ञानिक खोजों से भी प्रत्येक संसारी जीव के शरीर से विकीर्ण होने वाली आणविक आभा (या जैनसम्मत लेश्या) का अस्तित्व प्रमाणित हुआ है<sup>१</sup>। पातञ्जल दर्शन में कर्मों के शुक्ल और कृष्ण वर्ण की कल्पना की गयी है।<sup>२</sup>

भारतीय अध्यात्मवाद के अनुसार संसारी जीवों के जीवन का निर्माण कर्म पर ही निर्भर है किन्तु किस कर्म से किस फल की प्राप्ति होती है? जैन-दर्शन के अतिरिक्त

अन्य दर्शनों में इसका स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। वेदों में पाए जाने वाले कर्म यज्ञ के रूप में हैं और अनिवार्यतः फलदायी हैं।<sup>१</sup> उपनिषदों में भी बताया गया है कि कर्मानुसार अच्छे बुरे जन्म की प्राप्ति होती है। उपनिषदों में कर्मगति का देवयान और पितृयान के रूप में उल्लेख मिलता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार “अदृष्ट” पाप-पुण्यों का समूह है, जो जीव को यथोचित एवं समयानुकूल सुखदुःखादि फल देता है। रागद्वेषादिमूलक प्रवृत्ति ही शुभाशुभ कर्मों का कारण है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में मान्य पञ्चविध कर्म (उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन<sup>२</sup>) वस्तुतः कायिक चेष्टायें ही हैं। इनके अनुसार प्रलयावस्था में सब जीवों के मनस् पूर्वजन्मों के संस्कार और अदृष्ट रूप में धर्माधर्म (पुण्य-पाप) रहते हैं। ईश्वर में सिसृक्षा होने पर जीवों के अदृष्ट फल देने लगते हैं। योगसूत्रकार ने पुण्यकर्मों को शुक्ल और पाप-कर्मों को कृष्ण कहा है एवं कर्म-विभाग योगी और अयोगी के भेद से किया है। योगियों के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। अयोगियों के कर्म शुक्ल, कृष्ण एवं कृष्ण-शुक्ल होते हैं।<sup>३</sup> अयोगियों के कर्मों से बना कर्माशय (तीव्र संवेगादि से कृत कर्मों के कारण), अच्छी या बुरी जाति, आयु एवं भोग रूप फलों को (वर्तमान और भविष्य जन्मों) में देता रहता है। जन्म-जन्मान्तरों में किए गए प्रधान कर्म के अनुकूल फल निश्चित होते हैं।<sup>४</sup> योग दर्शन में प्रतिक्षण प्राणी द्वारा किए जाने वाले कर्मों की तीन गतियां मानी गयी हैं—कृत कर्मफल का नष्ट हो जाना (शुक्ल कर्मोदय से कृष्ण कर्मों का इस जन्म में नाश<sup>५</sup>), प्रधान कर्म के साथ गौण रूप से फल देना एवं कर्मों का प्रधान कर्म से अभिभूत होकर चिरकाल तक पड़े रहना।<sup>६</sup> मृत्यु के बाद अगला जन्म पूर्व वासनाओं की सहायता से ही होता है। जिस योनि में जन्म होने वाला है, उस योनि के कर्मफलों के भोगने योग्य जन्मान्तरकृत तदनुरूप कर्मोत्पन्न वासना व्यक्त होती है। वासनार्यें अपने हेतु (रागादि), फल, आश्रय (चित्त) एवं आलम्बन (विषयादि) के आधार पर विद्यमान रहती हैं। योग दर्शन के अनुसार नारकियों का दृष्टजन्मवेदनीय एवं जीवन्मुक्तों का अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है।<sup>७</sup>

कुमारिल भट्ट का मत है कि भोगायतन (शरीर), भोग-साधन (इंद्रियां) एवं भोग्य विषय (रूप रस गंधादि) रूप त्रिविध बंधन, जीवों के भवबंध का कारण है। संसारी आत्मा में ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार रहते हैं। धर्माधर्मवश जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता रहता है। मीमांसकों के अनुसार “चलता है”—आदि प्रत्यय का विषय “कर्म” है। कुमारिल के विचार में यह चलना-त्मक प्रत्यक्ष हैं<sup>८</sup> और एक ही प्रकार का है अर्थात् वैशेषिक-सम्मत पञ्चभेदों का एक ही प्रकार में अंतर्भाव हो जाता है। प्रभाकर के अनुयायी कर्म को प्रत्यक्ष न मानकर संयोग विभागादि से अनुमेय मानते हैं। मीमांसा दर्शन में वैदिक धर्म (नित्य, नैमित्तिक, काम्य एवं निषिद्ध) सर्वोपरि माने गए हैं। वेदविहित कर्मों में मीमांसासम्मत विभिन्न घात्वर्थों, संख्या, देश, निमित्त, फल, प्रकरण, द्रव्य, देवता, प्रधान, अप्रधान आदि अनेक कारणों से कर्मभेद माना जा सकता है किंतु मुख्यतः पुण्य और पाप (क्रमशः सुख एवं दुःख देने वाले) दो ही कर्म होते हैं। वेद में मान्य कर्म, “धर्म” एवं वेदनिषिद्ध कर्म



“अधर्म” हैं। कर्म को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानने के कारण, मीमांसा दर्शन को कर्मदर्शन भी कहा जाता है।

संक्षेप में आत्मज्ञान, निष्काम धर्माचरण, पापकर्म से विरति, पूर्वजन्म के संचित संस्कारों के नाश के अभाव में जीव पुनर्जन्म और भवबंध में फंसता है।

वेदांत दर्शन के अनुसार अविद्या के कारण भ्रमवश आत्मा का स्वयं को स्थूल या सूक्ष्म शरीर समझ लेना ही बंधन है। बंधनग्रस्त होने पर आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप (ब्रह्मत्व) भूल जाता है और स्वल्प, क्षुद्र, दुःखी जीव होकर, क्षणभंगुर विषयों में आसक्त होते हुए उन्हें पाने पर सुखी एवं न पाने पर दुःखी होता है और “अहम्” (मैं) की उत्पत्ति होने पर स्वयं को संसार से अलग समझने लगता है। अद्वैत वेदान्त में समस्त प्रपञ्च ब्रह्म में अध्यस्त माना गया है, अतः “अहम्” शुद्धात्मभाव न होकर अविद्याकृत बन्धन मात्र है। अविद्या से काम (विषय के प्रति धन में होने वाला रागादियुक्त भाव) एवं काम से कर्मोत्पत्ति होती है। कामभाव की बाह्य प्रतिक्रिया कर्म के रूप में होती है और अविद्या (यथार्थ और अयथार्थ के विषय में उत्पन्न भ्रम) जन्य कामभाव से प्रेरित कर्म ही जीव को बन्धग्रस्त करते हैं।”

अज्ञान को दूर करने के लिए काम पर नियन्त्रण किया जाता है। वेदान्त दर्शन में व्यावहारिक दृष्टि से पाप-पुण्य का भेद अन्य दर्शनों के समान ही स्वीकार किया गया है। रागद्वेषादिमूलक न होने से मुक्त जीव की क्रियायें कर्म नहीं होतीं। अच्छे एवं बुरे कर्म के फलस्वरूप सुख और दुःख मिलते हैं। सुख की प्राप्ति एवं दुःख के परिहार के लिए जीव पुनः कर्म करता है। इस कर्म-परम्परा से पुनर्जन्मादि होते रहते हैं। इसी प्रकार वेदान्त की अन्य शाखाओं (द्वैतादि) में भी पाप-पुण्य का असाधारण कारण कर्म को माना जाता है एवं अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार कर्म की व्याख्या की गयी है।

बौद्धदर्शन में (रागद्वेष तृष्णा से प्रेरित) कर्म को बन्धकारण स्वीकार किया गया है। मानसिक, वाचिक एवं कायिक तीनों तरह के कर्मों का परिणाम द्वादश निदान के अन्तर्गत आ जाता है। वैभाषिक बौद्धों का मत है, कि “चेतना” और “चेतनाजन्य” दो प्रकार के कर्म होते हैं। मानसिक कर्मों को चेतना एवं वाचिक और शारीरिक कर्मों को “चेतनाजन्य” कहा गया है। “चेतनाजन्य कर्म” के भी दो भेद हैं—“विज्ञप्ति कर्म” और “अविज्ञप्ति कर्म” जिनकर्मों का फल प्रकट रूप में होती है वे विज्ञप्ति कर्म हैं। कालान्तर में फलित होने वाले अविज्ञप्ति कर्म हैं। ‘अविज्ञप्ति कर्म’ (फल देने से पहले) अदृष्ट रूप में रहते हैं।”

इस प्रकार उपर्युक्त सभी दर्शनों में देहेन्द्रिय, सुख-दुःख, विविध योनियों में जन्मादि ही बन्ध हैं एवं बन्ध के कारण हैं काम भाव (रागद्वेषादि) से किए गए कर्म। कृतकर्म अवश्य फलदायी होते हैं, किन्तु रागादि रहित निष्काम कर्म बन्ध के कारण नहीं होते हैं।

### जैन सम्मत कर्म

जैनसम्मत कर्म मुख्यतः आठ हैं—ज्ञानावरणीय (जीव के ज्ञान पर आवरण करने वाले), दर्शनावरणीय (दर्शन के आच्छादक), वेदनीय (सुख-दुःख का अनुभव कराने

वाले), मोहनीय (आत्मा को मोहित करने वाले), आयुष्क (जीव का एक योनि, देहेन्द्रियादि से निश्चित अवधि तक सम्बन्ध कराने वाले), नाम, गोत्र एवं अन्तराय<sup>११</sup> (लाभ एवं सुखादि की प्राप्ति में विघ्न डालने वाले) कर्म । इन कर्मों के भी अनेक भेदोप-भेद हैं । ज्ञानावरण कर्म पांच प्रकार का होता है—मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण एवं केवलज्ञानावरण । ‘दर्शनावरणीय कर्म’ नौ प्रकार से ‘दर्शन’ का आवरण करता है—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रावेदनीय, निद्रानिद्रावेदनीय, प्रचलावेदनीय, प्रचला-प्रचलावेदनीय एवं स्त्यानगृह्णिवेदनीय ।<sup>१२</sup> “सद्वेद्य” एवं “असद्वेद्य” के भेद से वेदनीय कर्म दो प्रकार का है ।<sup>१३</sup> मोहनीय कर्म के भी दो भेद हैं—“दर्शनमोहनीय” एवं “चारित्रमोहनीय ।” दर्शनमोहनीय के तीन अवांतर भेद होते हैं—“मिथ्यात्ववेदनीय”, “सम्यक्त्ववेदनीय” और “सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय ।” इसी तरह “चारित्रमोहनीय” के भी दो भेद हैं—“कषायवेदनीय” एवं “नोकषायवेदनीय ।” “कषायवेदनीय चारित्रमोहनीय” कर्म के सोलह भेद होते हैं । क्रोध, मान, माया एवं लोभ (चारों कषायों) के अनन्तानु-बन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानानावरणकषाय और संज्वलनकषाय के (चार-चार भेदों से) कारण सोलह भेद कहे गए हैं । जैसे—अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया और अनन्तानुबन्धी लोभ । अप्रत्याख्यान आदि के भी चार-चार प्रकार होते हैं । “नोकषायवेदनीय कर्म” नौ प्रकार का होता है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद । इस प्रकार मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद होते हैं<sup>१४</sup>—तीन दर्शनमोहनीय, सोलह कषायवेदनीय एवं नौ नोकषाय-वेदनीय । आयुष्कर्म के चार भेद हैं—नारकायुष्कर्म, तीर्थग्योनायुष्कर्म, मानुषायुष्कर्म और देवायुष्कर्म ।<sup>१५</sup> जैन-दर्शन में चतुर्विध गतियों के कारण आयु के भी चार भेद बताए गए हैं । मूलतः नामकर्म बयालीस प्रकार का होता है—गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, साधारणशरीर, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यश, अयश, और तीर्थङ्करनामकर्म । इन नामकर्मों के भी अनेक भेदोपभेद हैं । समष्टि रूप से कर्मों का परिणाम शरीर एवं सम्पूर्ण जीवन है<sup>१६</sup>, किंतु व्यष्टि रूप में शरीर का विशेष-विशेष धर्म, विशेष-विशेष कर्म का फल है । जैसे—गोत्र कर्म गोत्र का, आयुष्कर्म आयु का, सुभग कर्म सौभाग्य का एवं दुर्भग कर्म दुर्भाग्य का निश्चय करता है । इसी तरह सभी कर्म अपने नाम के अनुरूप ही फलित होते हैं ।

आहर्तु दर्शन में कर्मबंध की प्रक्रिया अन्य दर्शनों के समान स्थूल रूप से ही नहीं अपितु सूक्ष्म रूप से भी बतायी गयी है । वे भाव और द्रव्य दोनों दृष्टियों से कर्म आस्रव (कर्मपुद्गलों का जीव की ओर प्रवाह) एवं बंध का वर्णन करते हैं । कार्यसिद्धि के लिए विचार का उठना भावकर्म है । द्रव्यकर्म भावों और संकल्पों का स्थूल रूप होता है । इसी तरह भावकर्म का भावसाव और भावबंध एवं द्रव्यकर्म का द्रव्यास्रव एवं

द्रव्यबंध होता है<sup>१९</sup>—मन में दूषित भावों का आगमन भावास्त्रव एवं मन में दूषित भावों का अस्तित्व भावबंध है। कषाय, जीव से कर्मों को चिपकाने में गोंद का काम करते हैं। बंधन की दशा में पुद्गल और जीव (अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए) एक दूसरे में व्याप्त हो जाते हैं। जैसे—शरीर के प्रत्येक भाग में चैतन्य व्याप्त है। मीमांसा, निरीश्वर सांख्य एवं बौद्ध के समान जैन विचारकों ने भी ईश्वर नामक किसी तत्त्व को कर्मफल का संरक्षकत्व नहीं दिया है।<sup>२०</sup> महावीर के अनुसार जैसे कुम्भकार दण्डादि उपकरणों के अभाव में घटादि नहीं बना सकता, उसी तरह ईश्वर कर्मादि साधनों के अभाव में शरीरादि का निर्माण नहीं कर सकता है।<sup>२१</sup> कर्माभाव में कुछ न कर सकने से उसकी सत्ता व्यर्थ है। जीव द्वारा किए गए कर्म और उसके फल में किसी दूसरे का कोई हाथ नहीं होता है। कर्म करने की स्वतन्त्रता के साथ ही फलभोग का उत्तरदायित्व भी महत्त्वपूर्ण है।

जैन मतानुसार जीव स्वयं अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता होता है। अद्वैत वेदान्त में जीव का बंधन मिथ्या या भ्रमरूप माना गया है। अतः अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी भ्रम है, किंतु जैन-दर्शन में जीव का बंधन मिथ्या न मानकर वास्तविक माना जाता है। न ही सांख्य के पुरुष के समान जैनसम्मत संसारी जीव अकर्ता और अभोक्ता होता हुआ अचेतन प्रकृति के जन्मादि बंधन को अपना बंधन समझता है। कारण एवं कार्य, कर्ता और भोक्ता का निश्चित संबंध होता है। इनके परस्पर अभिन्न होने से, जीव का पूर्णतः अकर्तृत्व असंगत है। राग और द्वेष जीव के धर्म हैं, अजीव के नहीं। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष सर्वदा मुक्त हैं एवं उनका बंध कभी नहीं हो सकता है। प्रकृति का ही बंध और मोक्ष होता है।<sup>२२</sup> सांख्यसम्मत प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की आलोचना करते हुए डॉ० ए. एन. उपाध्ये लिखते हैं—“प्रश्न है कि यदि बंध नहीं होता है, तो मोक्ष की चर्चा किसलिए? दोनों के यथार्थ संबंध के अभाव में, मिथ्या संबंध की कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए।”<sup>२३</sup> संक्षेप में बंधनों से वही छूट सकता है, जो वास्तव में बंधगत हो। इसलिए जैनाचार्यों का स्पष्ट मत है कि आराम अपने विभिन्न जन्मों का कर्ता है। कर्मों को कारण (राग-द्वेषादिकषाय) सहित नष्ट करने एवं पूर्वकृत कर्मफलों को भोग लेने के बाद ही आत्मा बंधमुक्त हो सकता है।

जीव भौतिक वस्तुओं से सर्वथा विपरीत होने के कारण अजीव द्रव्यों के बीच में स्थित होकर भी न उन्हें स्वीकारता और न नकारता है।<sup>२४</sup> वस्तुतः जैनसम्मत जीव द्रव्यकर्म का कर्ता न होकर भावकर्म का ही कर्ता है। द्रव्यकर्म अर्थात् कर्मपुद्गल द्रव्य होने से नित्य हैं, इसलिए जीव द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं कहा गया है। मोहनीयादि कर्म करने से इन कर्मों के पुद्गल जीव की ओर आकर्षित हो जाते हैं। अन्य भारतीय दर्शनों में कर्म “पुद्गल” के रूप में नहीं माने गए हैं। अतः जैनों की तरह आस्त्रव और बंध की प्रक्रिया (सकषाय जीव द्वारा मन, वचन और शरीर से शुभाशुभ चेष्टायें करने पर कर्म-परमाणुओं का आत्मा से चिपकना) अन्य कर्मवादियों ने स्वीकार नहीं की है।

न्याय-वैशेषिक आदि के मत में मन, वचन और काया द्वारा अच्छे-बुरे कार्य करने से ही आत्मा कर्ता होता है। जैनसम्मत जीव इन अर्थों में कर्ता है, किन्तु कर्मपुद्गल को नहीं बनाने के कारण द्रव्यकर्म का अकर्ता कहा जाता है।<sup>२९</sup> वस्तुतः जीव के मनवचनादि से कार्य करने पर ही कर्मपुद्गल उसकी ओर आते हैं, अतः व्यवहारनय से उसे द्रव्यकर्म का भी कर्ता<sup>३०</sup> कहा जा सकता है किन्तु निश्चयनय से जीव भावकर्म का ही कर्ता है, द्रव्यकर्म का नहीं।

देह में आत्मा की उपस्थिति की अनुभूति प्राणों के होने पर होती है। सप्राण जीव का ही बंध होता है।<sup>३१</sup> सप्राण जीव ही कर्ता और भोक्ता होता है। जैसे आत्मा की हत्या कभी नहीं होती है, क्योंकि वह नित्य और अमर है। राग-द्वेषवश एक जीव के द्वारा दूसरे जीव के प्राणों को ही हानि पहुंचाए जाने पर कर्मबंध होता है। कर्म-पुद्गल मिलकर (सप्राण जीव के एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने पर) औदारिक, वैक्रियिक, तैजस आदि शरीरों का निर्माण करते हैं। ये शरीर पौद्गलिक होने से अचेतन हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जैनसम्मत कर्मवाद का सिद्धांत भारतीय अध्यात्म-वाद की दृष्टि से प्राचीन होते हुए भी पूर्णतः नवीन है। यद्यपि अन्य भारतीय अध्यात्म-वादियों के समान जैन दार्शनिकों ने भी प्राणियों के रूप, गुण, ऐश्वर्य, भाग्य, सुख-दुःखादि के अन्तर का कारण अपने-अपने कर्मों का फल स्वीकार किया है किन्तु जैन-सम्मत कर्म का स्वरूप, भेद, विस्तृत व्याख्या, आस्रव एवं बन्ध की प्रक्रिया, जैन-विचारकों की सूक्ष्म एवं मौलिक दृष्टि का परिचायक है। अर्थात् "जैन-दर्शन में स्वीकृत कर्मपुद्गलों का विचार अपने आप में एक जटिल और विस्तृत विषय है एवं मेरे विचार से इस कर्मसिद्धान्त की तात्त्विक समानतायें अन्य भारतीय दर्शनों में नहीं मिलती है।"<sup>३२</sup>



संदर्भ :

1. (क) लेशयति—श्लेषयतीवात्मनि जननयनानिति लेश्या, अतीवचक्षुरायेक्षिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०

- (ख) द्रष्टव्य, जैन योग सिद्धांत और साधना, सम्पादक—आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पृ० ३३५।

2. The karma matter thus accumulated in the soul produces a kind of colouration called leśyā, such as white, black etc. which marks the character of the soul. The idea of the Śukla and kṛṣṇa karmas of the yoga System was probably suggested by the Jaina View.

—Indian Philosophy, by Das Gupta, Vol. I, P. 73

३. ऋत कर्मफलों की व्यवस्था में गड़बड़ी न होने देने वाला तत्त्व है। मैकडॉनल के अनुसार (Vedic Mythology P. II में) इस शब्द का प्रयोग आदेश,

उचित, सत्य, नियतफलदायी व्यवस्था आदि अर्थों में किया गया है ।

४. उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा, प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ।  
भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च, तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥

—ध्यायकारिकावली (प्रत्यक्ष खण्ड) ६, ७

५. चतुष्पदा खल्वियं कर्मजातिः ।

कृष्णा शुक्लकृष्णा शुक्लाऽशुक्ला कृष्णश्चेति ॥

—व्यास भाष्य, पृ० ४०४

६. तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे.....कर्मणा भोगः संपद्यत इति ।

—वही, पृ० १६२

७. तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य ।

—वही, पृ० १६२

८. चिरमवस्थानं द्वित्रिचतुरादिजन्मसु प्रसुप्ततयाऽवस्थानमित्यर्थः ।

—योगवार्तिक, पृ० १७०

९. योगसूत्रभाष्य, ४/९ ।

१०. शास्त्रदीपिका, पृ० ५० ।

11. Kāma the emotional response towards the object and karma the practical act, to gain it or avoid it. It is this whole attitude of individualistic action that is rooted in a confusion between the real and the unreal, that leads to Samsara. Kāma is born of avidya and karma is the result of kāma.

—Indian Philosophy, Rādhākriṣṇan, Vol. II, P. 623

१२. अभिधर्मकोश, ४-१-७ ।

१३. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ।

—तत्त्वार्थसूत्र, ८/५

१४. चक्षुरचक्षुरवधिः केवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलाऽवस्थानगृद्धि-वेदनीयानि च ।

—तत्त्वार्थसूत्र, ८।८

१५. सदसद्वेद्ये ।

—वही, ८।९

१६. दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमित्या-  
त्वतदुभयानि कषायनोकषायवनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणसंज्वलन-  
विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभः हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसक  
वेदाः ।

—वही, ८।१०

१७. नारकतैर्यग्यानिमानुषदैवानि ।

—वही, ८।११

१८. योगसूत्र, २।१३ (सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।) के अनुसार शुक्ल, कृष्ण  
कृष्ण-शुक्ल (पाप-पुण्य) कर्मों से जाति, आयु एवं भोग की प्राप्ति होती है,

किंतु प्रत्येक कर्म का स्पष्ट फल नहीं बताया गया है ।

१९. वज्रदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो ।  
कम्मादपदेसाणं अणोणपवेसणं इदरो ॥

—बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा-३२

20. In this process of binding, it should be particularly noted, karma acts by itself and not under the guidance of God as in Hinduism.

—Outlines of Indian Philosophy, Hiriyanna, P. 169

२१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा—१६४१-२ ।

२२. सांख्यकारिका, ६२ ।

23. The question can be raised, if there is no bondage, why talk of liberation, and if there is no real connection between Puruṣa and Prakṛti how the false conception of such connection can rise? It is these points, such as Prakṛti does everything and Puruṣa neutral without doing anything, that are attacked.

—प्रवचनसार, अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० ४५

२४. गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोगलाणी कम्माणि ।  
जीवो पुग्गलमज्जे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥

—प्रवचनसार, गाथा-२।६३

२५. कम्मत्तणभाओग्गा खंघा जीवस्स परिणइं पप्पा ।  
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमदा ॥

—प्रवचनसार, गाथा—२।७७

२६. एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिदिट्ठो ।  
अरहन्तेहि जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥

—वही, गाथा—२।६७

२७. (क) जीवो पाण्णिबद्धो बद्धो मोहादिएहि कम्मेहि ।  
उवभुंजदि कम्मफलं वज्जदि अण्णेहि कम्मेहि ॥

—वही, गाथा—२।५६

- (ख) वैशेषिक दर्शन में भी प्राणों को आत्मा का साधक बताया गया है—  
प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष  
प्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि ।

—वैशेषिक सूत्र, ३।२।४

28. 'The karma doctrine, as an aspect of Jaina Notion of matter, is a complex and elaborate subject by itself, still I would say here passingly that no substantial similarities of this karma doctrine are known to me in any of the Indian systems.'

—प्रवचनसार, अंग्रेजी प्रस्तावना में डॉ० ए० एन० उपाध्ये, पृ० ६८

## पुस्तक समीक्षा

१. मारवाड़ी व्यापारी—लेखक डॉ० गिरिजाशंकर शर्मा, अलखसागर, बीकानेर । प्रकाशक कृष्ण जनसेवी एण्ड कं०, १९८८, पृ० २०४, मूल्य १९५ रु० ।

यह ग्रन्थ राजस्थान विश्वविद्यालय में सन् १९८० में इतिहास के शोध प्रबन्ध के रूप में पी-एच०डी० की उपाधि के लिए “बीकानेर में व्यापारी वर्ग की भूमिका (१८१८-१९४७ ई०)” शीर्षक के अन्तर्गत स्वीकृत हुआ था और आठ वर्ष की लंबी प्रतीक्षा के बाद भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली के आर्थिक अनुदान से इसका प्रकाशन “मारवाड़ी व्यापारी” शीर्षक से संभव हो सका ।

यह ग्रन्थ राजस्थान के मारवाड़ी व्यापारियों के संदर्भ में विशेष रूप से बीकानेर राज्य के व्यापारी वर्ग की १८१८ से १९४७ के बीच की स्थिति के विभिन्न पहलुओं का प्रामाणिक सूचनापूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है और विशेष रूप से उन भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों पर प्रकाश डालता है जिनकी वजह से बीकानेर व्यापारी अपना राज्य छोड़ कर जीविका की खोज में देश के कोने-कोने में जाकर बस गये तथा अपनी व्यापारिक प्रतिभा, धनसंचयी प्रवृत्ति और अध्यवसाय से भारत की अर्थव्यवस्था पर छा ही नहीं गये बल्कि इन गुणों के पर्याय बन गये । इसमें उन्हें बीकानेरी अनुत्पादक मरुभूमि, सामन्ती करों का बोझ व शोषण, बीकानेर के बाहर के व्यापारियों की प्रतियोगिता और अंग्रेजी सरकार की व्यापारिक और साम्राज्यवादी तिकड़मों का सामना कर अपना मार्ग बनाना पड़ा । फिर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि ये मारवाड़ी बीकानेरी व्यापारी दूर-दराज के क्षेत्रों में बस जाने पर भी बीकानेर राज्य और वहां के निवासियों से बराबर संपर्क बनाये रहे । राज्य के शासकों को आर्थिक संकटों से उबारने, अकाल पीड़ितों को मदद करने स्वास्थ्य सेवाओं और शिक्षा के प्रसार तथा उद्योग धन्धों के विकास में इन बीकानेरी व्यापारियों ने अपना बाहरी प्रदेशों से कमाया धन यथाशक्ति लगाया और तदनुसार यश अर्जित किया ।

किंतु इन बीकानेरी व्यापारियों की अर्थ-उपार्जन की गतिविधियों में सभी कुछ प्रशंसनीय नहीं था । वे मुख्य रूप से व्यापार में उनके हानि-लाभ के दृष्टिकोण से जुड़ी रहती थीं । उदाहरण के लिए १८१८ ई० में बीकानेर राज्य में जब अंग्रेजी प्रभुसत्ता स्थापित हो गई तो बीकानेर का व्यापारीवर्ग तुरन्त ही अपने आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर अंग्रेजी सरकार का पिट्टू बन गया और उसके वरद हस्त के नीचे

बीकानेर और बीकानेर से बाहर अंग्रेजी साम्राज्य के प्रदेशों में खूब फला-फूला। अंग्रेजी सरकार ने भी अपनी राजनीतिक और आर्थिक नीतियों के प्रचार और प्रसार में इस वर्ग का भरपूर उपयोग किया। इस प्रकार बीकानेर के व्यापारियों और अंग्रेजी सरकार के पारस्परिक सहयोगात्मक सम्बन्धों का जो सिलसिला सन् १८१८ ई० में शुरू हुआ वह अनवरत रूप से १९१४ ई० के प्रथम महायुद्ध तक और उसके बाद भी चलता रहा। अंग्रेजी सरकार ने स्वयं से उन्हें चिपकाये रहने के लिए उनके प्रमुख लोगों को रायबहादुर, दीवान बहादुर, के०सी०आई०ई०, सर, राजा, शेरिफ, ट्रेजरर, पोर्ट कमिश्नर, कारपोरेशन आदि की उपाधियां और पद प्रदान किये और इस प्रकार उनके द्वारा मारवाड़ी व्यापारियों में होड़ की भावना उत्पन्न कर उन्हें तब तक चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा से अलग रखने के काफी सफल प्रयत्न भी किए। किंतु २०वीं सदी के प्रथम अर्द्धांश में स्वतंत्रता के पूर्व अन्य राजस्थानी राज्यों के व्यापारियों की तरह बीकानेर के मारवाड़ी भी अपने हितों के प्रति सजग और उनकी बढ़ती हुई व्यापारिक गतिविधियों को रोकने की अंग्रेजों की दुरभिसंधियों से भलीभांति परिचित हो गये थे। अतएव वे अब केवल इंग्लैंड के लिए कच्चा माल निर्यात करने और उससे इंग्लैंड में बना माल भारत में खपाने के लिए एजेंट के रूप में काम करने के लिए तैयार न थे। अंग्रेजी सरकार और उसके अधिकारियों से सीखे हथकंडों और अपनी बढ़ती पूँजी के प्रयोग से वे इंग्लैंड के उद्योगों को भारत में स्थापित करने, देशी रियासतों और अंग्रेजी साम्राज्य के प्रांतों में नए-नए घन्घे खोलकर वे न केवल भारतीय अर्थव्यवस्था को हाथ में लेना चाहते थे, बल्कि अन्तराष्ट्रीय व्यापार में भी अंग्रेजों को चुनौती देने के लिए उद्यत हो उठे थे। इसलिए उनकी अंग्रेजी सरकार से टकराहट और फलस्वरूप उनका राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आंदोलन में उतरना सुनिश्चित था। फिर यह तो था ही कि इन मारवाड़ी व्यापारियों में बहुत से राष्ट्रीय भावना से भी निर्विवाद रूप से प्रेरित थे और उन्होंने क्रांतिकारी, गांधी-वादी आंदोलनों तथा १९४२ के भारत छोड़ो आंदोलन आदि में भाग लिया था और आर्थिक योगदान भी दिया था। कहना न होगा यह मारवाड़ी व्यापारी वर्ग का प्रगतिशील स्वरूप था।

डॉ० गिरिजाशंकर का यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभाजित है। इन अध्यायों में बीकानेर में अंग्रेजी प्रभुसत्ता की स्थापना के बाद सामंतों का पतन तथा व्यापारी वर्ग का उत्थान, व्यापारिक मार्ग, आयात-निर्यात बीकानेरी, व्यापारियों का निष्क्रमण, व्यापारियों का प्रभावशाली वर्ग के रूप में विकास, उद्योगीकरण में योगदान, प्रमुख व्यापारी घराने, राष्ट्रीय आंदोलन में योगदान, शिक्षा-जनकल्याण के क्षेत्र और आधुनिक सन्दर्भ में मारवाड़ी व्यापारी वर्ग से संबंधित विस्तृत प्रामाणिक विवरण-सूचनाएं आंकड़े और तालिकाएं हैं। यथा स्थान उचित सन्दर्भ, टिप्पणियां दी गई हैं। ग्रन्थ के अन्त में सर्वांगपूर्ण सन्दर्भ सामग्री और ग्रन्थ में आए क्षेत्रीय शब्दों की भावार्थ-सूची से ग्रन्थ का महत्त्व और बढ़ गया है। भाषा-भाव-अभिव्यक्ति की दृष्टि



से भी यह कृति अच्छी बन पड़ी है। ऐसे अच्छे शोध ग्रन्थ के लेखन तथा उसके निर्देशन के लिए लेखक और निर्देशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

अंत में सुभाष के रूप में इस ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा कि विषय-प्रवेश के पूर्व सन् १८१८ के पहिले के, १९वीं सदी के, राजस्थान के इतिहास के सन्दर्भ में बीकानेर राज्य की स्थिति की संक्षिप्त किंतु प्रामाणिक जानकारी देकर बीकानेर राज्य की भौगोलिक स्थिति उसके व्यापारिक मार्गों तथा उससे लगे प्रदेशों का मनचित्र और जोड़ देने से जो कमी खटकती है वह भी दूर हो जाती।

—डा० भगवानदास गुप्त

भूतपूर्व अध्यक्ष, भारतीय इतिहास एवं  
संस्कृति विभाग, बुन्देलु खण्ड विश्वविद्यालय  
११३, खत्रयाना मार्ग, फांसी-२८४००२

२. कथ्य अपना तथ्य पराया, ३. बिम्ब प्रतिबिम्ब—लेखक—मुनि मोहनलाल सुजान, प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू १९८९, पृ० १६९, मूल्य १५ रुपए एवं पृ० १९६, मूल्य २० रुपए।

आचार्य तुलसी के शिष्य मुनि मोहनलाल सुजान की लघु बोध कथाओं के ये दो संकलन बरबस ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। लोकजीवन में चलते आ रहे किस्सों को सरल शब्दों में लिखकर सुरक्षित करने का प्रशंसनीय प्रयास मुनिजी ने किया है। शैली इतनी रोचक और प्रभावी है कि एक बार हाथ में लेने पर आद्योपांत पढ़कर ही पाठक विश्राम लेता है। इन कथाओं में नीति, सदाचार, सत्य, न्याय बुद्धिमानी आदि उन्नत वृत्तियों की व्यंजना है और जीवन में पद-पद पर आने वाली समस्याओं से जूझने की सीख भी है।

इन कथाओं में राजा, बादशाह, ठग, चोर, ब्राह्मण, बनिए, जाट, पैगंबर, फरिश्ते, भिखारी, ऋषि, लकड़हारे यानी आम आदमी से लेकर उच्चतम वर्ग के लोग सबके सब अपनी विचित्रताओं के साथ अंकित हैं। कुछ कहानियां अकबर वीरबल से सम्बन्धित हैं, कुछ विक्रमादित्य के पराक्रम और बुद्धिमत्ता की स्मारिकाएं हैं। बनियों की धर्मनिष्ठता, सजगता, ब्राह्मणों का तप-श्याग, निर्धनता आदि के जीते-जागते चित्र इनमें हैं। हर कथा में कुछ-न-कुछ रचनात्मक संकेत अवश्य मिलेंगे।

ये कहानियां अनेक स्रोतों से ली गई हैं। ब्राह्मण, जैन, इस्लाम तीनों परंपराओं की कथाएं यहां एक साथ हैं। कबीर और लोई से संबद्ध बोध कथाओं का संकलन करके सच्चे संतमत को भी आदर दिया गया है। ललित वाङ्मय की कलात्मकता और चमत्कृति के लिए न तो यहां अबकाश ही है न उसकी आवश्यकता ही है।

इन कथाओं की भाषा बहुत सरल, सीधी और यथातथ्य वर्णन करने में समर्थ है। पुस्तक की छपाई, मुख पृष्ठ की साज-सज्जा आदि आकर्षक हैं।

खण्ड १८, अंक १ (अप्रैल-जून, ६२)

७३

ऐसे जीवनोपयोगी साहित्य की रचना करके मुनि ने एक अभाव की पूर्ति की है। प्रकाशन के लिए आदर्श साहित्य संघ, चूरू बधाई का पात्र है।

**४. मंजिल की पहुंच**—मुनि मोहनलाल सुजान, प्रकाशक—शाह गोरखचंद पन्नालाल फोला मेहता बालोतरा वि०सं० २०३३, पृ० ७६, मूल्य-४.५०।

‘मंजिल की पहुंच’ मुनि मोहनलाल सुजान की ४९ कविताओं का संकलन है। ‘स्वकथ्य’ में मुनिजी ने ‘साहित्य साधना को लक्ष्य प्राप्ति के लिए विशिष्टतम साधन’ माना है। कवि जैन साधु है। उनकी साधना निश्चित ही मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चल रही है। उस लक्ष्य की प्राप्ति में कविता विशिष्टतम साधन किस रूप में हैं, यह विचार्य है।

मुनिजी कहते हैं—

यद्यपि मंजिल बड़ी दूर है जिसको पाने उत्कंठित हूं।

किंतु पथिक मैं युग-युग का चलने से भी चिर-परिचित हूं ॥ (पृ० ७१)

मार्ग की बाधाएं अनेक बार गति कुंठित करती हैं फिर भी निरंतर आगे बढ़ने का दृढ़ निश्चय लेकर वे चल रहे हैं। उन्हें मनुष्य के पुरुषार्थ पर पूरा विश्वास है साधना करके वह स्वयं सिद्ध तीर्थकर और भगवान् बन सकता है। सृष्टि की लघु इकाई होकर भी अनन्त बनने की क्षमता रखता है। जैन-चिन्तन के इस विशिष्ट तथ्य को कवि ने प्रथम कविता में बहुत सशक्त रूप में व्यक्त किया है—

दीप लघु-सा हो मले ही सूर्य का अवतार है वह।

धूप में कुछ भी न तम में किंतु पहरेदार है वह ॥ (पृ० ३)

वर्तमान युग में अविवेक, जड़ता, भौतिकता एवं आचारहीनता बढ़ रही है परन्तु यह मनुष्य की सहज प्रकृति नहीं है अतः कवि को लगता है कि ‘युग गति बदलना चाहता है।’ (पृ० ४-५) उसे मनुष्य की प्रगति पर अटल विश्वास है। महामुक्ति का लक्ष्य लेकर चलने वाले मुनिजी का निश्चय है कि ‘बन्धन के लघु अणुओं में भी महामुक्ति का द्वार मिलेगा।’ (पृ० ३४) इससे स्पष्ट है कि मुनिजी ने जैन-दर्शन के तत्त्व निर्णय को गहराई से आत्मसात् किया है। ‘बंध’ का परिज्ञान होने पर ही मुमुक्षु भावसंवर एवं द्रव्यसंवर का वरण करता है। वह मानसिक उद्योग और नैतिक प्रयत्नों के लिए तत्पर होकर कर्म मार्ग का निरोध करता है। तभी वह मुक्ति की ओर बढ़ पाता है। कहना न होगा कि मुनिजी का भाग्य ‘संवर’ की सहज अभिव्यक्ति है और इस अर्थ में इसे ‘लक्ष्य प्राप्ति में उत्कृष्टतम साधन’ कहा जा सकता है। ‘मंजिल की पहुंच’ शीर्षक कदाचित् इधर ही संकेत करता है।

कवि की सभी रचनाओं में आत्मालोचन एवं निवृत्ति की चेतना प्रखर रूप में व्यक्त है। अंतिम नौ कविताओं में आचार्य तुलसी के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करके कवि ने संतमत की परिपाटी में मान्य गुरु-उपासना को बहुमान दिया है।

इस संकलन में यथावकाश वर्तमान समस्याओं पर भी विचार किया गया है। जैसे २१वीं कविता में भाषा-विवाद पर मुनिजी की टिप्पणी द्रष्टव्य है—

उन्नति का माध्यम समझा था अवनति का कारण वही बनी ।

हिंदी इंग्लिश के भ्रंश में फंसकर नर सब ही कलांत बने ॥ (पृ० ४२)

कवि की भाषा सहज और व्यावहारिक है । कुछ प्रयोग अवश्य खटकते हैं जैसे ध्वंसित, अंतदिल (पृ० ३०) सभी कविताएं तुकान्त एवं गेय हैं । 'तुलसी स्कूल' के साहित्यकारों में मुनिजी ने इस रचना से अपना एक स्थान बनाया है । हिंदी जगत् उनकी उपलब्धियों से निरन्तर समृद्ध हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है ।

—डॉ० आनन्दमंगल वाजपेयी

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय, डीडवाना

**५. राजस्थली-५१**—संपादक, इयाम महर्षि, प्रकाशक, हनुमान पुरोहित, अध्यक्ष, राष्ट्र भाषा हिन्दी प्रचार समिति, श्री डूंगरगढ़, मूल्य—आठ रुपए ।

अनियतकालीन प्रकाशनों की कड़ी में 'परम्परा' के बाद 'राजस्थली' का भी नाम जुड़ गया है । यह प्रकाशन भी लोक चेतना जगाने को शुरू हुआ है किन्तु 'परम्परा' से हटकर साहित्यिक पत्रिका के रूप में । सम्पादकीय में, संपादक ने साहित्यिक पत्रिकाओं के सामने आने वाली समस्याएं और आर्थिक तंगी को उजागर करते हुए भी राजस्थानी साहित्य सम्मेलन जैसी भारतीय स्तर की संस्था की आवश्यकता को ज्वलंत बताया है ।

वास्तव में आज का माहौल राजस्थानी भाषियों के लिए चेतने-जागने का है । भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में स्वीकृति राष्ट्र भाषाओं में राजस्थानी का नाम नहीं है और भी बहुत सी भाषाओं का नाम नहीं है, किन्तु मणिपुरी, कोंकणी आदि के भाषामाषी जैसे जागरूक हैं वैसे राजस्थानी भाषामाषी नहीं हैं ।

कहना न होगा, राजस्थानी भाषा भारतीय भाषा-परम्परा में सर्वोत्कृष्ट, समृद्ध और अक्षुण्ण जीवंत भाषा है । उसके वाङ्मय और शब्द-परम्परा में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का इतिहास छुपा है । वैदिक और श्रमण संस्कृतियों की क्रीड़ा स्थली-राजस्थली में वह आज भी जीवंत है ।

पत्रिका में कहानी, व्यंग्य और कविताएं प्रकाशित हैं । कुछ अनुवादित भी हैं । मुलदागालीयेव भाषा की कविताओं का अनुवाद अच्छा बन पड़ा है । 'मम्मी री समाधी'—में अनुवाद ने अनगढ़ शब्दों से कहानी के मूल प्रवाह को रोक दिया लगता है । ओंकारश्री का नया प्रयोग—'राम नाम सत्त' भी नया प्रयोग मात्र बन पड़ा है, किन्तु सर्वांश में यह प्रकाशन भविष्य में अनियत सामग्री लेकर भी आ सकता है ।

—परमेश्वर सोलंकी

## पत्राक्ष :

१. 'तुलसी प्रज्ञा' के १७वें खण्ड का चतुर्थ अंक मिला। इस अंक में डॉ० हरमन जैकोबी ने जो भाषण ९ मार्च, १९१४ को लाडनू में आचार्य श्री कालूगणि के समक्ष दिया था, उसको प्रकाशित कर अपने एक नई जानकारी विद्वत् समाज को दी है।

इतिहास की अमरबेल : ओसवाल में श्री मांगीलालजी भूतोडिया ने आचार्य श्री कालूगणिजी के परिचय में लिखा है। डॉ० हरमन जैकोबी के अलावा डॉ० एल० पी० टैसीटोरी भी आचार्यश्री से मिला था। डॉ० टैसीटोरी का कोई पत्र आचार्यश्री के नाम आपके संग्रह में है क्या ?

'तुलसी प्रज्ञा' का प्रत्येक अंक निखार पर है और अनुसंधान-सामग्री से ओत-प्रोत होने के कारण संग्रहणीय हो गया है।

—हजारीमल बांठिया

पांचाल शोध संस्थान, ५२/१६ शक्करपट्टी,  
कानपुर-२०८००१

२. 'तुलसी प्रज्ञा' जनवरी-मार्च '९२ प्राप्त हुई। हार्दिक धन्यवाद। आपने इस अनुसंधान पत्रिका को हिन्दी एवं अंग्रेजी खण्डों में न केवल उच्चतर, बौद्धिक स्तर का वरन् शोध सूचना के बहुमूल्य स्रोत का एक अनुपम संग्रह बना दिया है। अत्यंत प्रेरणास्पद सामग्री का भी समावेश कर रहे हैं। हार्दिक बधाई।

अनुक्रमणिका से ज्ञात हुआ कि आप स्वयं दर्शन के प्रत्येक पक्ष तथा प्राचीन साहित्य के वैज्ञानिक पक्ष एवं 'मूक माटी' जैसे नवीन साहित्य के समीक्षा पक्ष आदि में अध्ययनशील तथा लेखन में अनुत्तरीय रूप से निष्णात हैं।

मुझे पूर्ण आशा एवं विश्वास है कि "तुलसी प्रज्ञा" आपके सम्पादकत्व काल में अप्रत्याशित ऊंचाइयों को छू सकेगी।

—प्रो० एल० सी० जैन

निदेशक, आचार्यश्री विद्यासागर शोध संस्थान  
पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर (म०प्र०)

३. 'तुलसी प्रज्ञा' का जनवरी-मार्च, १९९२ अंक मिला और आद्योपान्त पढ़ गया हूँ। निस्संदेह सभी लेख शोध की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसके संपादन

में वैदुष्य की विशिष्ट आभा लक्षित होती है। सुर वाणी से लेकर मरुवाणी तक के रोचक उदाहरण, जानवर्द्धक शोध-मामग्री, विदेशी विद्वानों तक के लेख, पुस्तक-समीक्षा आदि विणेषताओं के कारण 'तुलसी प्रज्ञा' प्रज्ञ पाठकों को प्रेरणा प्रदान करती है। डॉ० परमेश्वर सोलंकी एवं मुनि विमलकुमार के लेख तथा युवाचार्य महाप्रज्ञ (मुनि नथमल) कृत गंगनहर सम्बन्धी पांच श्लोक विशेष सरस एवं सारगमित लगे। ऐसी सुरुचिपूर्ण एवं सम्यक् शोध मामग्री के लिए विद्वान् संपादक को हार्दिक बधाई।

—डॉ० शक्तिदान कविया  
पोलो-II, जोधपुर (राज०)

४. विविध स्थितताओं के कारण 'तुलसी प्रज्ञा' का अक्टूबर-दिसम्बर अंक अभी पढ़ पाया हूँ। आपके शोधपूर्ण लेखों के प्रकाशन से भारतीयता का गौरव बढ़ेगा ही एवं हमारे अंग्रेजी परस्त मानसिक गुलामों की आंखों को भी नवीन ज्योति मिलेगी। शोधपूर्ण लेखों के कारण विवाद तो होगा ही पर उसी अमृत-मंथन से ही विविध रत्न प्राप्त होंगे और वही आपकी उपलब्धि होगी।

'जैन विश्व भारती' अब माना हुआ विश्वविद्यालय है—विद्वान् कुलपति हैं एवं विविध विद्वान् कार्यरत हैं। कृपया उन्हें भारतीय वाङ्मय के विविध धूमिल पृष्ठों को प्रकाशित करने हेतु आग्रह करें जिससे देश में एक स्वस्थ चिन्तन, समालोचन एवं बहस प्रारम्भ हो सके। नया अंक भी प्राप्त हो गया है।

—भण्डारी मदनराज  
४४६, महावीर गली, पहली 'सी' रोड  
सरदारपुरा, जोधपुर-३४२००३

५. 'तुलसी प्रज्ञा' (खण्ड १७ अंक ३) के विभिन्न लेखों को पढ़ते समय कुछ सुखद अनुभूतियां हुईं। विषयों की दृष्टि से संस्कृति तथा दर्शन का व्यापक क्षितिज प्रकट होता है। जैनमत से इतर मतों अथवा परिप्रेक्ष्यों के लिये स्थान देकर पत्रिका जैन अनेकान्त का जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'लोक अवधारणा' पर संपादक की परिचायात्मक टिप्पणी एक ओर वैमत्य होने पर भी लेख को स्थान देने की उदारता का संकेत देती है तो दूसरी ओर लेख को एक दिशानिर्देश भी देती है।

द्विभाषी रखकर पत्रिका का स्कोप और भी बढ़ गया है। भारतीय संस्कृति तथा दर्शन के क्षेत्र में यह पत्रिका पाठकों की जानकारी में वृद्धि करेगी तथा शोधार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विचार है।

—डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर  
आर-४, विश्वविद्यालय प्रांगण  
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-४

६. 'तुलसी प्रज्ञा' के जनवरी-मार्च अंक की सामग्री खोजपूर्ण तथा मौलिक है। इसे पढ़कर मेरा ध्यान पत्रिका की व्यापकता की ओर गया तथा ज्ञात हुआ कि आप द्वारा संपादित पत्रिका का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें खगोल शास्त्र, दर्शन, साहित्य, भाषा, व्याकरण, मनोविज्ञान, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व आदि विषयों से संबंधित लेख हैं।

इस पत्रिका की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके दो खण्ड—एक हिन्दी दूसरा अंग्रेजी—एक साथ प्रकाशित होते हैं, जो दोनों भाषाओं को जानने वालों के लिए लाभकारी हैं। ऐसा बहुत कम पत्रिकाओं में मिलता है।

यदि शोध-छात्रों को यह पत्रिका कुछ कम शुल्क में दी जाये तो छात्रों के हित में होगा।

—राजवीरसिंह शेखावत

१२, प्रतापनगर, शास्त्रीनगर

जयपुर-१६

७. मुनि सुखलालजी के—आचार्य प्रवर श्री भिक्षु का राजस्थानी साहित्य पर—लेख को पढ़कर यह महसूस होता है कि इन सारी बातों पर प्रकाश डालने के लिए एक स्वतंत्र शोध प्रबन्ध की आवश्यकता है। ऐसे शोध प्रबन्ध से आचार्य प्रवर की बहुमुखी प्रतिभा से जनसाधारण व शोध विद्यार्थी बहुत ही लाभान्वित होंगे।

—डी० शांतिलाल अरिष्टनेमि चौधरी

नं० ३९, बाजार स्ट्रीट,

तिरुपति-५१७५०१

८. 'तुलसी प्रज्ञा' खण्ड १७ प्राप्त हुआ। आप इस मंच से बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। तेरापंथ आचार्य भिक्षु के बारे में जानकारी बहुत उपयोगी लगी राजस्थानी में चिनेक रुचि रखता हूँ इसलिए। इनके जीवनवृत्त के बारे में कोई जानकारी भेजें तो बड़ा आभारी रहूंगा।

—बी० एल० माली 'अशांत'

३/३४३, मालवीय नगर,

जयपुर-३०२०१७

9. I read with interest your informative article on the "Saptarṣi Era". In my translation of the *Vāyu Purāṇa* I did give a detailed note on the Era but a note is no substitute for a detailed article like yours. I hope more people will now know about that important Era.

—Dr. G. V. Tagare

Madhavnagar Road,

Sangli-416416

# Tulsi Prajñā

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

Vol. XVIII

April-June, 1992

No. 1

(ENGLISH SECTION)

*Editor :*

**Dr. Parmeshwar Solanki**



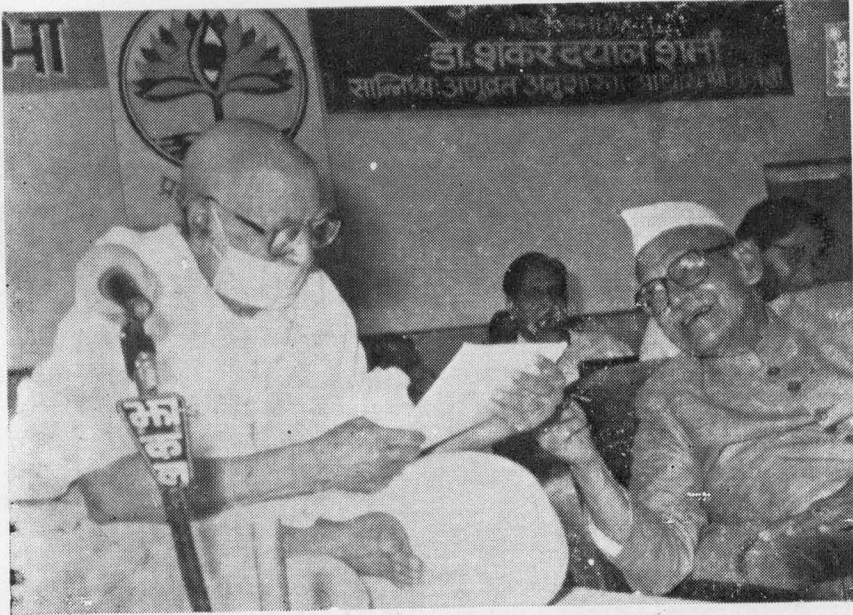
**Jain Vishva Bharati Institute,  
Deemed University, Ladnun-341306**





Aṇuvrata Anuśāstā

## Acharyashree Tulsi



**Honourable Dr. Shankar Dayal Sharma**  
Vice-President of India

In Conversation with **Acharya Shri Tulsi**

While opening the Dept. of Aṇuvrata  
in the

**Jain Vishva Bharati Institute**  
(Deemed University)

Ladnun (Raj.)—341306

On 2nd April, 1992



## THE DOORS ARE OPEN TO ALL\*

The doors of the saints are open to all.  
Whoever wishes, may see it for himself.  
The doors are the saints' sentinels.  
The shade of the tree, the moon's moonlight,  
The splendour of the sun, are all boundless;  
Unto them, all have an equal right !  
The saints' doors are open for all.  
Be one rich or poor,  
Good or virtueless,  
Be one an outcast or a money-lender,  
A labourer or a farmer,  
A Hindu or a Muslim,  
The caste is no consideration there,  
What really matters is humanity.  
Whether one is high-souled or base,  
One's speech and conduct amply unfold !

—Acharya Tulsī

\*Rendering it to English by Dr. R. K. Seth from धर्मचक्र का प्रवर्तन—  
an authentic publication of *Jain Vishva Bharati*, Ladnun.

## EVEN IMPOSSIBLE CAN TAKE SHAPE THROUGH NON-VIOLENCE

It is an incident from Mahabharat. Draupadi's five sons were murdered. Overwhelmed with grief she in a fit of emotion resolved that she will tie her hair only after colouring them with the blood of the enemy. The killer Ashvatthama was caught and brought before Draupadi. 'The killer of your sons is here at your feet. What punishment would you like to give to give him?' Twinkling her eyes Draupadi saw Ashvatthama. She had a vivid glimpse in her eyes of the heart-pangs of Ashvatthama's mother, the wife of Guru Dronacharya. She was a mother herself and understood what maternal love meant. She said, 'Forgive Ashvatthama.' Those who had subdued and brought him were bewildered. They looked Draupadi with utter disbelief. Draupadi said, 'I can understand the suffering of his old mother. I do not want to make her unhappy.' Ashvatthama and all those standing by his side learnt a convincing lesson in Non-violence.

### **When dacoits became brothers**

Mahabharat is dated in ancient history, but something happened about a hundred years ago. Information was received in Gogunda (Mewar) about the impending dacoity. Men became nervous on hearing the news. They conferred and fled from the village, but a devout lady Chandubai thought of a way out. She assembled the leading women of the village and revealed her plan. Women were impressed by her imagination and courage. They agreed to her proposal and waited for the dacoits.

The dacoits arrived on the set date. Near the entrance gate of the village the women were singing songs of felicitation wearing colourful auspicious clothes and ornaments. From a distance the dacoits saw them. They were happy to see the glittering ornaments. What they were wanting to get at the point of the gun were before them. The dacoits came a little closer. Their leader was in the front. He entered the village with his colleagues. From the other side Chandubai moved forward with the Reception tray (*Āarti thāl*) to welcome them. In a welcoming mood she said, 'Brothers, you are warmly welcome. We have been waiting for you for long.'

The leader of the dacoits heard being addressed as "brothers". In his heart the dormant brotherly feeling woke up. A thought arose in his mind, 'Can any brothers loot their own sisters?' With this thought he decided to turn back.

Seeing that the dacoit leader was on the point of turning back, Chandubai said with affection. 'Dear brothers, you have come to your sisters' home. How can you return without taking food? All of you have to come home and partake in the meal prepared by your sisters.'

The dacoits could not return. They come into the village with ladies. Chandubai had already made all the arrangements for food. Assisted by the other women of the village, she extended full hospitality to the dacoits. After the meals she took them for paying respects to the fourth Acharya of the *Terapanth* Shrimajjayacharya who was then residing in the village. The dacoits were very happy. Before leaving the village, the leader of the dacoits, gave to each woman Rupees twenty-one as a brotherly gift.

The event sounds incredible, but those who are familiar with the power of non-violence as well as the results of the experiments of non-violence, can know that through non-violence the impossible can take a concrete shape and become possible.



### Road to Success

The development of material power will never be irksome if it is accompanied by the development of the power of self-control. Any civilization which is externally rich but internally hollow is bound to go utterly bankrupt one day.

I believe that right philosophy, right determination, right conduct, efforts towards casting man in a new mould and scientific investigation of spirituality is the road to success, for it will fill the above internal hollowness.

—Acharya Tulsi

## THE HOLY ACHARYAS

The founder of the Terāpanthi sect of the Svetamber Jains was Swami Bhīkhanji. He was born in village *Kaṇṭāliyā* on Āshaḍ Sudi 13, V.S. 1783. His father was Balluji Saklechā and mother was Dipabai.

Swami Bhīkhanji possessed, since early boyhood, a religious temperament. He used to visit *Sādhus* belonging to *Gachhavāst Sampradāya* who were adored by his family. While in close association with those *Sādhus*, it gradually dawned upon him that in them there was more of outward show than of real religious ardour. So he left them and began to pay respects to Raghunathji, another Acharya of one of the branches of the *Baistola* (*Shanakhvast* sect) of the Svetamber Jains.

After some time Bhīkhanji resolved to give up all worldly connections and take to the Holy Order of *Sādhus*. As a preliminary to his determination, he took a vow of total abstention from sexual pleasures and began to fast every alternate day. As fate would have it, he lost his wife soon after and although in the prime of his youth and although earnestly pressed by his relatives to marry again, he would not do so as he had made up his mind to renounce the world. Thereafter the permission of his mother was obtained, his father having died already, and he was initiated by Acharya Shri Raghunathji in V.S. 1808.

Swami Bhīkhanji remained with Raghunathji for about 8 years and during that period he applied himself to the critical study of Jain *Sūtras* with untiring zeal and unique perseverance. From such study it became clear to him that the *Sādhus* of that time were not leading their lives according to cononical injunctions and were not correctly preaching the principles of Jainism. He, therefore, seriously discussed the matter with his Guru Raghunathji and humbly implored him to follow the true path. Guru Raghunathji without paying proper attention and consideration to the just request only put forward the excuse that as these were bad times (दुष्काल) and fifth descending cycle of Eras (पंचम आर), the effect of the time made it impossible to lead the life of a true *Sādhu*. Bhīkhanji was not satisfied with this answer.

Having failed in his attempts to induce his Guru to follow the true path, Swamiji resolved himself to lead a true ascetic's life and to put forward the right interpretation of Jain *Sūtras*. He, therefore, left his Guru Raghunathji in the town Bagaḍi and was accompanied by such of *Sādhus* as wanted to follow his lead.

At that time all the स्थानकवासी सधु used to stay in स्थानक or places specially set apart for *Sādhus* to live in. But Swami Bhīkhanji could not use or occupy a place meant or built for *Sādhus*, as that was against the rules laid down in *Jain Sastras*. So, he began to stay in such places of laymen as were for their own use and freely offered to him for his stay, as this was in conformity with the rules.

It is said that one day *Dewan* Fatehchandji Singhi of Jodhpur while passing through the bazar saw in a vacant shop thirteen people performing their religious worship and he enquired of them the reason of their not resorting to the *Sthānak* for such religious practices. They then related to him the whole history of how and why Swami Bhīkhanji separated from Ācharya Raghunathji and also explained the principles as enunciated by him. They also informed him that there were only 13 *Sādhus* following his lead upto that time.

The strange coincidence and the number of *Sādhus* and the history of the separation led one of the poets standing by at that time, to compose a couplet nicknaming the sect as *Terāpanthi*. Swami Bhīkhanji gave a very appropriate interpretation to it and said that only one who followed the five great vows (पंच महाव्रत), five rules of conduct (पंच समिति), and control of body, mind and speech (तीन गुप्ति) or in all thirteen rules was a *Terāpanthi* or follower of thine, the Lord's path.

Swami Bhīkhanji passed away from this world on *Bhadrapad Sudi* 13, V.S. 1860. He initiated 49 *Sādhus* and 56 *Sādhis* during his life time.

The second Acharya was Swami Bharimalji, who was installed as the Acharya and successor to Swami Bhīkhanji at Siriyari in Marwar. He was the son of Krishnaji Lodha. His mother's name was Dhārini. During his pontificate 38 *Sādhus* and 44 *Sādhis* were initiated. He breathed his last in Rajnagar (Mewar) at the age of about 75 on *Māgh Badi* 8, V.S. 1878.

The third Acharya Swami Raichandji was installed as Acharya in Rajnagar. His father was Chaturji Bomb, an Oswal by caste. He initiated 77 *Sādhus* and 168 *Sādhis* and passed away in *Rawalyan* at the age of 62.

The fourth Acharya Swami Jitmalji was born in village *Rohit* (Marwar) on *Aswin Sudi* 14, V.S. 1860. He was initiated in Jaipur. He was a profound scholar and a great poet. With him composing poetry was a natural instinct as it were. He composed संतगुणमाला while he was a child of eleven and translated पन्नवणसुत्त in Rajasthani poetry in the eighteenth year of his age.

He composed three and half lacs अनुष्टुप्स and was the first to render canonical texts in lyrical form. His work भगवती री जोड़ is a unique Jain encyclopaedic scripture containing 60906 interpretative verses, composed in Rajasthani poetry, representing 329 राग and रागिणी of Indian classical music.

He also translated the आचारांग सूत्र and wrote a commentary on it. He rendered into verse the निशीथसूत्र, 28 chapters of the उत्तराध्ययन सूत्र and 10 chapters of the पन्नवणा सूत्र. Besides these, he wrote a number of books—सन्देह-विष-औषधि, कुमति विहङ्गन, जिनज्ञान मुखमण्डन, भ्रमविध्वंसन, प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, प्रश्नोत्तर साधंशतक, मिश्रु जस रसायन, महिपालचरित and जय जशकरण रसायन etc. He initiated 105 *Sādhus* and 224 *Sādhvīs* and expired at the age of 78 on *Bhadrapada Badī* 12, V.S. 1938 in Jaipur.

The fifth Acharya Swami Maghrajji was born at Bidasar on *Chatt Sudi* 11, V.S. 1897 and was initiated at Ladnun. He was installed as an Acharya at Jaipur. He initiated 36 *Sādhus* and 83 *Sādhvīs* and breathed his last on *Chatt Badī* 5, V.S. 1949.

The sixth Acharya was Swami Maniklalji, who was born in Jaipur. His father's name was Hukumchandji Thard Srimal and his mother was Chhoteji. He was initiated at Ladnun and was installed as an Acharya at Sardarshahar. He initiated 16 *Sādhus* and 24 *Sādhvīs* and passed away at an early age of 42.

The seventh Acharya Swami Dalchandji was born in Ujjain and was initiated at Indore and became Acharya at Ladnun. His father was Kaniramji Pipara and his mother was Jadavaji. He left this world at the age of 57 and initiated 36 *Sādhus* and 125 *Sādhvīs*.

The eighth Acharya was Swami Kaluramji, He was born on *Falgun Sudi* 2, V.S. 1933. His father's name was Mulchandji Kothari and his mother was Sati Chhogaji. The mother and son were both initiated at Bidasar on *Aswin Sudi* 3, V.S. 1944. He succeeded Swami Dalchandji as an Acharya on *Bhadrapada Sudi* 15, V.S. 1966 and initiated 155 *Sādhus* and 225 *Sādhvīs*.

He was a profound Sanskrit scholar, and was vastly learned in *Jain Sastras*. For his sound and correct interpretations of *Jain Sastras* he had won the unstained admiration of many philosophers and learned men of this country as well as of other foreign countries.

He passed away on first *Bhadrapada Sudi* 6, V.S. 1993 at Gangapur. He had a septic ulcer in his finger which was operated by an ordinary pen-knife by one of his *Sādhus*, as *Jain Sādhus* could not take the help of a layman for any operation in those days.



the time of his passing away he was fully conscious and fully realising that his life was gradually exhausting. Just three days prior to his passing away he nominated as his successor, the present Acharya Shri Tulsi.

Among the notable personalities who paid visit to Acharya Shri Kaluramji Swami may be mentioned the names of Dr. Hermann Jacobi of Bonn (Germany), the celebrated Jain scholar who visited him in 1914 A.D.; Dr. Charles W. Gilkey of Chicago who visited him in 1925 A.D.; the Hon'ble Agent to the Governor-General, Rajputana States and Maharana Sir Bhopal Singhji of Udaipur and each of them spoke highly about his saintly character and high erudition.

The ninth and present Acharya Shri Tulsi was born at Ladnun on *Kartik Sudi*, V.S. 2, 1971. His father was Jhumarmalji Khater. His initiation took place on *Pous Badi 5*, V.S. 1911 along with his sister Ladaji at Ladnun and he was installed as ninth Acharya on first *Bhadrapada Sudi 9*, V.S. 1993 corresponding to 26.8.1936 A.D.

Acharya Shri Tulsi has brought about a revolution in the order. It is a rare instance in history when a young man of 22 assumed the responsibility of guiding 500 monks and nuns and lacs of lay-followers. But he reorganised the order and inspired the monks to acquire modern knowledge and the nuns to learn Sanskrit and Prakrit. He directed his attention towards social reforms and started the *Anuvrat* movement with a twofold object. One was to utilise an organised body of monks and nuns for the benefit of mankind and the other was to raise the morality of society which was fast degrading after the attainment of independence by India.

He is all in all a worthy successor of a worthy Acharya. He received Miss Meliscent Shepherd, who was then chief Organiser of the Association for Moral and Social Hygiene in India, on 4th February, 1946 i.e. ten years after his installation, along with the lady H. Mary Spens, wife of Hon'ble Sir Patric Spens, C.B.E., Chief Justice of India and she spoke very high of the Acharya Shri and remarked that from the glowing lamp of his teaching and example many holy lives are lit.

Following is the text of her speech delivered at Sardarshahr on 4th February, 1946.—

“Gentlemen,

On behalf of Lady Spens, Mr. & Mrs Gupta and myself, I have been allowed by His Holiness, a few minutes in which to try to express our heartfelt gratitude for the most generous hospitality we have enjoyed here at Sardarshahr at the kind invitation of the Jain Svetamber Terapanthi Sabha.

To His Holiness the Acharya Maharaj, we are indeed indebted.

He has not only permitted us all to attend these great gatherings, but has also granted us some of his valuable time in private audience, when he answered our enquiries.

We have been greatly interested in the principles of the devoted *Sādhus* and *Sādhvis*, who keep a mental enclosure away from the affairs of the material world, in order to attain spiritual advancement of the soul. We have observed the daily routine, the method of making their own utensils (most beautifully decorated), of writing their own sacred scriptures, of sewing, of making brushes all from materials given by the people to whom they give their messages. We have been present when these *Sādhvis* begged food. We have seen that they are welcomed to the kitchens by the ladies of the houses and that the nuns reject a large amount of the food freely offered, but the monks and nuns only take sufficient for their individual needs for one day only. They are therefore not in the least like ordinary beggars. In fact at one gathering of above ten thousand laymen and women, several laymen chanted a song of invitation begging His Holiness to decide to return to Sardarshahr another year.

We have also seen those who want to be initiated after long testing, praying to be allowed to join the *Sādhus* and *Sādhvis* in full sight of all their neighbours and with the written permission from their relatives. The shining eyes of monks and nuns and their replies show how happy they are.

We have been privileged to be accepted almost as member of this most brotherly and sisterly family. We do thank the President of the *Sabha* Seth Chhogmal Chopra and Seth Nemchand Pincha, M.L.A., Bikaner and many other members of the Executive Committee of the *Sabha* for their very courteous invitation to attend these memorable functions. Neither Lady Spens, Mr. and Mrs Gupta and their children, nor I will ever forget these happy days.

Seth Budhmal Dugar and his family have very kindly given us the hospitality of his guest house and we have also much enjoyed visiting the ladies in many other houses, where we felt that we have been welcomed into friendship.

There is a Punjabi Proverb 'From one lamp a thousand can be lit'. From the glowing lamp of your Acharya's teaching and example many holy lives are lit. May your spirit of peace and fellowship spread throughout India."

—And the endless journey is going on with full swim and enthusiasm, taking likeminded people and torch bearers together or walking alone, under the able leadership of Anuvrat Anushasta, Yuga Pradhan Acharya Shri Tulsi.

—PARMESHWAR SOLANKI

## XANDRAMES AND SANDRACOTTUS' (Classical Accounts Re-examined)

□ Upendranath Roy

*[Irony of fate and the British rule in India turned into the sheet-anchor of Indian history what was insignificant and unworthy of even passing reference to ancient authors of India. The Cambridge History of India (Vol. I) devotes one-seventh of its space to the description of Alexander's invasion and the chronology of the textbooks used in our schools and colleges are solely based on the identification of certain names of individuals and places that occur in the classical accounts. Gangaridae and Prasioi are supposed to be parts of Bengal, Palibothra is equated with Pāṭaliputra. Xandrames, Andrames or Aggrames is identified with some ruler of the Nanda dynasty while Sandracottus, Andracottus or Sandrocypthus is believed to be no other than Chandragupta Maurya. So the synchronization of Alexander and Seleucus with the Nanda and Maurya rulers and the chronology resulting from it have become almost articles of faith with our intellectuals. Few care to examine the facts. Current views are accepted widely not out of conviction but generally out of laziness (there is little time to spare for study and research) or fear (the conclusions drawn by the well-known scholars can be challenged on pain of being branded "fundamentalist" or "reactionary"). The few who are alert and courageous are disabled and suppressed by lack of resources. That makes it even more necessary to re-examine the relevant data add restore the truth now.]*

—Editor]

### Origin of the Dogma

For a long time, Christianity believed that the universe was created not more than 4004 years before Christ. It was heretical to the Jewish and Christian Scholars, therefore, to date anything earlier than that. They believed that the world owed all its wisdom and culture to Greece and Rome and the British and the French were the successors and continuators of that tradition and had a mission of civilising. So they attempted to bring all that was glorious in India nearer in time to the Greek and Roman civilisations, if not posterior to it. This line of thinking left its impression upon even

the best and the most nationalistic among Indians who had received western education. They could not help interpreting Indian texts to the taste of the Christian rulers.

The suggestion that Sandracottus can be identified with Chandragupta Maurya came first from a South Indian Scholar, Haridas Pillai. His suggestion was accepted and announced by a French Academy in 1772 as a remarkable discovery. The view, however, gained currency when Sir William Jones promoted it in 1795 A.C. and the credit for the "discovery" was given to him. What is forgotten or overlooked in this respect is the role of the Bengali intellectuals in propagating the theme and the psychology behind the same. It demands and deserves clarification.

With a few exceptions like Dr. Jadu Nath Sarkar, the Bengali historians have taken history simply as a means of glorifying Bengal and Bengalis rather than revealing the truth. According to logic characteristic to them, there was no war of independence in India in 1857 as Bengal played no role in it; the Imperial Guptas must have originated in Bengal as their reign is called the "golden age"; Kālidāsa must be a Bengali as Kālī is the main deity in Bengal. Bankim Chandra Chatterjee is the precursor of such logic and historiography. He was disturbed to notice that the Bengalis were deemed to be weak. So he proceeded to prove that the Bengalis were strong and sturdy in the past and invited others to join him. He began rewriting the history with the announcement that it was the fear of none but the Bengalis that compelled the forces of Alexander to retreat.

One of such articles by him appeared more than a century ago in the Śrāvṇa number of the 'Prachār' in the Bengali era 1291 (corresponding to August-September, 1883 A.C.). That article, 'Disgrace of Bengal', remains untranslated into English to date which necessitates quoting at length from it. This is what Mr. Chatterjee wrote : "The well-known Greek historian (Sic !) Megasthenes attended the court of Chandragupta, the king of Magadha. He has left a description of the country of the Gangaridae. He has specified the location of that country with the assertion that the river Ganges flowing from north to south marks the eastern boundary of the country. Evidently, he refers to that very part of Bengal which is called Rāḍha (রাড়) now. Viewed correctly, Gangaridae of Megasthenes is but the corruption for GANGĀRĀḌHI. It is quite possible for people to name the country on the bank of the river Gangā, 'Gaṅgārāṣṭra'. It looks similar to the names

'SURĀṢṬRA' (Sarat), MADHYARĀṢṬRA (Mewar), GURJARĀṢṬRA etc. formed by adding the word 'RĀṢṬRA'. 'GANGĀ-RĀṢṬRA' would corrupt into GANGĀRĀṬA and GANGĀRĀRHA gradually. Then the word 'Gangā' would be dropped for the sake of brevity. For example, people use the word 'TEERASTHA' for 'GANGĀ TEERASTHA'. The old Sanskrit name for TIRHUT is "TĪRABHUKTI". Here too, the word 'Gangā' is gone and "TĪRA" alone is retained. GANGĀRĀRHA too has become "RĀRHA" for the same reason. We can infer from the statement of Megasthenes that 'RĀRHA' was a separate kingdom at that time. Megasthenes says this kingdom was so powerful that it was never defeated by any enemy and other kings dared not attack it for fear of the elephant troops of the Gangaridae. He has also mentioned that when Alexander reached the bank of the Gangā and heard about the might of the Gangaridae, he retreated from that very place. That Alexander desisted from war for fear of the prowess of the Bengalis, may or may not be acceptable to a person, but it is testified by Megasthenes himself. We are not introducing a new, tutored witness."<sup>1</sup>

If the name Gangārādhi (गंगाराढ़ी) is challanged as fictitious, that too is answered by Chatterjee : "When we find that people of the region which was called Gangaridae by Megasthenes are known as the Rādhis (राढ़ी) now, we deem it alone sufficient to establish the historicity of the GANGĀRĀDHĪ. But we are not relying upon this proof alone in using the term GANGĀRĀDHĪ (गंगाराढ़ी). It is known to many that there is a collection of rare Indian books known as Mackenzie's collection. There is little possibility of their being printed and published and they are neither available to all. Yet they contain new, strange historical items. Wilson has published a list of those books and some select pieces of historical information, vide page 82 of that book. It is mentioned there that ANANTA-VARMĀ, also known as KOLĀHALA, was king of GANGĀRĀDHĪ who conquered KALINGA. We find that inscribed on stone. We have not manufactured the name GANGĀRĀDHĪ." Kolāhala was, Chatterjee adds, the founder of the Gangā dynasty of Orissa. The ruler of that dynasty built the temples of Puri and Konark and resisted the onslaught of the Muslim invaders for about three hundred years.<sup>2</sup> The truth about the Gangaridae will come to light in due course. What the long quotations reveal is the general trend of the Bengal elite. Hemchandra Raychaudhury, Niher Ranjan Roy, Radha Kumud Mukherjee and Ramesh Chandra Majumdar proceeded with the same spirit as it would be sinful in Bengal to deviate.

### Authors of the Classical Accounts

Now the question before us is what the basis of the current views is, i.e. who the authors of the Greek and Latin accounts were, how the accounts have come down to us and what value we can attach to them. The next question in order will be how far the current views correspond to the information available.

The earliest account of India is that by KTESIAS of ERIDUS in CARIA (fifth century B.C.). He was physician to the king of Persia for 20 years (418-398 B.C.). Only fragments of his treatise on India are available and McCrindle has translated them.<sup>3</sup> They contain nothing but grotesque legends about India and "add practically nothing to our knowledge."

Herodotus, born between 490 and 480 B.C. at HALICARNASSUS wrote 'The Histories' which is retent in full and several translations of the work have appeared in English. His knowledge about India, however, did not pass beyond the territory that formed the twentieth Satrapy of the Iranian empire.<sup>4</sup> Herodotus is the only author before Christ whose work is retent in full.

Next in time comes Nearchus, a general of Alexander the Great. He is reported to have written an account of his voyage in the ERYTHREAN SEA. It is lost now but ARRIAN has left a narrative in Chapters XVIII to XLIII of Indica which is believed to be copied from the original journal. Strabo joins Nearchus with DIAMACHUS, MEGASTHENES and ONESICRITUS as a retailer of fables and PLINY goes so far as to deny the reistence of his journal. We need not join issue with them as Nearchus' account does not contain anything relevant to our present discussion.

According to a few incidental notices by Strabo, ARRIAN, PLINY and CLEMENS ALEXANDRINUS, Megasthenes lived with SELEUCUS NICATOR and with SIBYRTIUS, the SATRAP of ARACHOSIA. He met with both PORUS and SANDRACOTTUS. He was sent as an ambassador to King Sandracottus, who lived in the city of Palibothra after the conclusion of a treaty between SANDRACOTTUS and SELEUCUS. So he is believed to have visited India shortly before 300 B. C.<sup>5</sup> His 'Indika' is lost and the fragments collected by DR. Schwanbeck and translated into English by McCrindle cannot be ascribed to him in toto, R.C. Majumdar has argued well to establish that only a part of the fragments can be accepted as genuine.

DIODORUS and STRABO were born two centuries later.

DIODORUS was born at AGYRIUM in SICILY and travelled in Egypt during 60 to 57 B.C. He wrote BIBLIOTHECA HISTORICA, consisting of 40 books, in 30 years. Only books I to V and XI to XX are still retant, while fragments of the other books are preserved in later works. Fortunately, the retant books contain the material relevant to our discussion. The book II contains general description of India while book XVII describes Alexander's invasion of India. Strabo was born 63 B.C. and his GEOGRAPHY received its final shape between 17-23 A.C. Book XV of the 'Geography' contains information about India.

PLINY'S (23-79 A.C.) 'Natural History' is an encyclopaedia in 37 books, only first ten of which were completed by him. His nephew completed the rest after his death. Books II and VI of these contain information about India. A little before Pliny some unknown author wrote the work popularly known as the 'PERIPUS OF THE ERYTHREAN SEA' which describes navigation and commerce through the Indian Ocean Red Sea and Persian Gulf. CURTIUS, PLUTARCH and PTOLEMY followed PLINY in point of time. CURTIUS was a contemporary of the Roman Emperor CLAUDIUS (41-54 A.C.). He wrote the history of Alexander in ten books, two of which are lost entirely and even the rest are preserved partially. Alexander's biography and other works by PLUTARCH (46-120 A.C.) are still retant. PTOLEMY'S GEOGRAPHY gives a lot of information about India.

ARRIAN (96-180 A.C.) has left two works. First of these, 'An abasis of ALEXANDER' records Alexander's life from ascension to throne to death. He names two sources of his information—ARISTOBULUS of CASSANDRIA and PTOLEMY, the son of LAGUS (who became king of Egypt later). Both accompanied Alexander during his compaign in India and being based on them, ARRIAN'S account is treated as contemporary one. His second work, INDIKA, written in IONIAN dialect gives a general description of India based on Megasthenes and ERATOSTHENES, through it draws on other authors also. As mentioned above, the book II of this work contains a narrative of Nearchus' voyage.

Nothing is known definitely about Justin, but he placed in the first century B.C. generally. Solinus, the Latin grammarian and compiler lived in the first half of the third century A.C. So none of the accounts written during the times of Alexander and Seleucus is retant, none of the authors of the retant accounts was an eye-witness to what he described, and what the two eye witnesses Nearchus and

Megasthenes wrote is known from the works composed three to four centuries later. Such a long separation in time and place causes confuses and contradictions, several of which have been noticed by scholars.<sup>6</sup> Taste and temperament of the authors is also a matter that deserves consideration. Some people are willing to accept and record anything delivered to them, others care to examine. ARRIAN, STRABO and PLINY are more or less critical and rational, while Megasthenes seems willing to accept everything. But worse than Megasthenes are the well-known historians of our own times who hold the fragments collected by Schwanbeck as the whole of Megasthenes' Indica and proceed to argue that as certain things (the Mahābhārata, untouchability etc.) are not mentioned by Megasthenes, they could not have existed in the fourth century B.C. With a few fragments at hand, how can one say for sure what the book contained and what it did not? Only part of Schwanbeck's collection can be ascribed to Megasthenes and there are only 13 items in it which can be said to have formed the subject-matter of his work for sure.<sup>7</sup> Even of these thirteen, there are some seven to eight items only which Megasthenes could have described correctly (e.g., geography of India and Ceylon, fertility of India, the city of Palibothra, philosophers of India, how Indians dined). The rest are worthless being based on hearsay, or opposed to laws of nature or contradicted by the respectable evidence derived from other sources.

### The "Nanda" ruler

The passages allegedly referring to a "Nanda" ruler reigning during Alexander's invasion of India occur in the writings of Curtius, Diodorus and Plutarch. ARRIAN's narrative believed to be based on Megasthenes does not contain them. Still we do not want to dismiss them as fictitious. What we solicit from the readers instead is caution.

This is what DIODORUS SICULUS writes in his BIBLIOTHECA HISTORICA (Book XVII, Chapter XCIII) :

"He had obtained from Phageus a description of the country beyond the Indus : First came a desert which would take twelve days to traverse; beyond this was the river called the Ganges which had a width of 32 Stadia, and greater than any other Indian river; beyond this again was situated the dominions of the PRAISIOI and the GANGARIDAE, whose king Xandrames, had an army of 200,000 horse, 200,000 infantry, 2000 chariots, and 4,000 elephants trained and equipped for war. Alexander, distrusting these statements, setn



for PORUS and questioned him of as to their accuracy. Porus assured him of the correctness of the information, but added that the king of the GANDARIDAE was a man of quite worthless character, and held in no respect, as he was thought to be the son of a barber. This man—the king's father—was of a comely person, and of him the queen had become deeply enamoured. The old king having been treacherously murdered by his wife, the succession had devolved on him who now reigned.”<sup>8</sup>

And QUINTUS CURTIUS RUFUS reports the following :

“Beyond the river (Hypasis) lay extensive deserts which it would take eleven days to traverse. Next came the Ganges, the largest river in all India, the farthest bank of which was inhabited by two nations, the GANGARIDAE and PRASII, whose king AGRAMMES kept in the field for guarding the approaches to his country 20,000 cavalry and 200,000 infantry, besides 2,000 four horsed chariots and what was the most formidable force of all, a troop of elephants which he said, ran up to the number of 3000.

All this seemed to the king to be incredible, and he therefore asked PORUS, who happened to be in attendance, whether the account was true. He assured Alexander in reply that, as far as the strength of the nation and the kingdom was concerned, there was no exaggeration in the reports, but that the present king was not merely a man of originally of no distinction, but even of the very meanest condition. His father was indeed a barber, scarcely starving off hunger by his daily earnings, but who, from his being not uncomely in person, had gained the affections of the queen, and was by her influence advanced to too near a place in the confidence of the reigning monarch. Afterwards, however, he treacherously murdered his sovereign; and having put the young princes to death begot the present king, who was detested and held cheap by his subjects, as he rather took after his father and than conducted as the occupant of a throne” (Book IX Chap. II).<sup>9</sup>

Plutarch differs a little from both :

“This river (Ganges) they heard, had a breadth of two and thirty Stadia, and a depth of 100 fathoms, while its farther banks were covered all over with armed men, horses and elephants. For the kings of the GANDARITAI and the PRASIAI were reported to be waiting for him with an army of 80,000 horse, 200,000 foot, 8,000 war chariots and 6,000 fighting elephants. Nor was this any exaggeration for not long afterwards ANDKOCOTTUS, who had by that time mounted the throne, presented SELEUCUS with 500 elephants,

and overran and subdued the whole of India with an army of 600,000 men.....—ANDROCOTTUS himself, who was then but a youth, saw Alexander himself and afterwards used to declare that Alexander could easily have taken possession of the whole country since the king was hated and despised by his subjects for the wickedness of his disposition and the meanness of his origin” (Life of Alexander, Chap. LXII).<sup>10</sup>

Now we proceed to discuss the variations. First, there are differences in details about the army. DIODORUS mentions 4,000 elephants, Curtius 3,000 and Plutarch 6,000; Curtius and Diodorus concur in giving the figure of the horses 20,000 while Plutarch raises it to 80,000. Perhaps Plutarch was exaggerating to impress his readers. Or we may assume that the figures got muddled on transmission. Whatever the truth, such variations are immaterial in contrast to the fact that while both Curtius and Diodorus speak about a king of GANGARIDAE and PRAISIOI, Plutarch mentions “kings.”

It means the two kingdoms were separate and ruled by two different kings. But Plutarch does not name the two kings. Nor does he specify the kingdom the throne of which ANDROCOTTUS mounted. Perhaps he himself was confused and ignorant. That is the explanation based on the assumption that the current reading and translation are correct. We have, however, reason to believe that the original version had “the king” instead of “kings”. The last sentence in the passage quoted above refers to “the king”, not “kings” (that Alexander could easily have taken possession of the whole country since the king was hated and despised by his subjects etc.). For the sake of consistency, the earlier sentence should also have “the king” and nothing else. Obviously the reading has got corrupt, if the translators are not to blame.

As to the name of the king, Diodorus has Xandrames, while Curtius gives Agrammes. R.M. Smith pleads for a lot of changes in the Purāṇa texts, suggests that the last ruler of the Nanda dynasty was called Nandendu and concludes that Xandrames was none but Nandendu.<sup>11</sup> Other scholars have paid more attention to the reading ‘Agrammes’. According to Hemchandra Ray Chaudhury Agrammes is the Greek form of Augrasena or Augraseni and Dhanananda was called Augrasena or Augraseni because he was the son of Ugrasena (i.e. Mahāpadma). Such arguments are wide off the mark as Xandrames in Greek can stand for Chandramas (i.e. Chandramā) only on phonetic grounds. Remove ‘X’ from Xandrames and you

get Andrames which leads to corruptions like Agrames, Agrammes, Agramen, Agrammen etc. Such readings do not deserve the attention they have received. Our scholars could have realised it but for their bias,

There is apparently a contradiction between the account of Curtius and Diodorus. Diodorus blames the queen for the murder of the old king while Curtius blames the barber. Diodorus mentions the immoral relationship between the queen and the barber but fails to indicate that the latter became a king after the death of the old king or that he begot the present ruler after putting to death of the young princes. The assertion that "the succession had devolved on him who now ruled" can only mean that the ruler concerned was born before the death of the old king even though he was rumoured to be an illegitimate son of the barber. If Curtius is taken to mean that the barber chopped off the head of the old king, killed his young sons and took the queen for his wife openly, that is simply impossible. Ministers, generals, priests and soldiers of the kingdom could not have taken that easy. So we have to conclude that the king and the young princes were killed secretly and lover of the queen became a guardian and adviser of the young incumbent of the throne. He might have wielded the defacto supreme power for the period of the minority of the new king. But he was dead and Xandrames was ruling independently at the time of invasion. Illegitimate birth of Xandrames might or might not have a basis in reality. Scandalous character of the queen as well as the wicked disposition of the son might have contributed to the theory of the illegitimate birth.

### The Nandas in the Purāna texts

Whether the above accounts have anything to do with the Nandas cannot be answered fully and finally without referring to the Purānas. The Purāna text based on the Matsya, Vāyu and Brahmāṇḍa and edited by Pargiter runs as following :—

महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः ।

उत्पत्स्यति महापद्मः सर्वक्षत्रान्तको नृपः ॥

ततः प्रभृति राजानो भविष्या शूद्रयोनयः ।

एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ॥

अष्टाशीति तु वर्षाणि पृथिव्याञ्च भविष्यति ।

सर्वक्षत्रमयोद्धृत्य भाविनार्थेन चोदितः ॥

सुकल्पादिसुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः ।  
 महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ॥  
 उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विरष्टभिः ।  
 भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्यान् गमिष्यति ॥

and the Bhāgavata version edited by him reads the following :—

महानन्दि सुतो राजन् शूद्रागर्भोद्भवो बली ।  
 महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ॥  
 ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधामिकाः ।  
 स एकच्छत्रां पृथिवी मनुल्लङ्घित शासनः ॥  
 शासिष्यति महापद्मः द्वितीय इव भार्गवः ।  
 तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्यप्रमुखाः सुताः ॥  
 य इमां भोक्ष्यन्ति महीं राजानः स्म शतं समाः ।  
 नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।  
 तेषामभावे जगती मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥<sup>19</sup>

R.M. Smith reads “शूद्रायां कालसंवृतः” for “शूद्रायां कलिकांशजः” and suggest the following reading for the last two verses :—

महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ।  
 सहल्यस्तत्सुतो ह्यष्टौ समा द्वादश वै नृपः ॥  
 सहल्याद् यः स्मृतस्त्वन्व्यो नन्देन्दुः स भविष्यति ॥  
 उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो विद्विडष्टभिः ।  
 भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्यान् गमिष्यति ॥<sup>20</sup>

These texts demonstrate how the above accounts differ from the facts about the Nanda dynasty. Following are the points of difference :—

1. **Parentage**—Both Diodorus and Curtius declare that the then monarch was the son of a barber. The Nandas were not barbers according to the Purāṇas. Even the Mudrarākṣasa does not say so. The Nandas were ‘Śūdras’ according to the Purāṇas and the word does not necessarily mean ‘barbers’. Both Curtius and Diodorus declare that the favourite of the queen was a barber. Curtius is very replicit about the miserable condition of the fellow. “Scarcely Starving off hunger by his daily earnings” is a description which applies to a person both of whose parents were poor barbers. That does not apply to Mahāpadma, the founder of the Nanda dynasty. Mahāpadma was not the son of a barber. He was the son of Mahānandi, the last ruler of Śisūnāga dynasty. He was called Śūdra simply because his mother came of a Śūdra family. The Purāṇas,

varying in other details, are unanimous about the parentage of Mahāpadma :

- (१) महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः
- (२) महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कालसंवृतः
- (३) महानन्दिसुतो राजन् शूद्रागर्भोद्भवो बली

All these lines from the Purāṇs mean the same thing and exclude the possibility of his being a barber's son. The same applies to his sons and successors.

**2. Conspiracy and Murder**—The barber in the above account usurps supreme power through immoral relationship with the queen resulting in conspiracy and murder. The Purāṇas do not mention conspiracy and murder and they need not. Though born of a Śūdra woman, Mahāpadma was the son of the king and in absence of any male issue born of his Kṣatriya queens, Mahāpadma succeeded to the throne as a matter of course after the death of his father, Mahānandi. Had he usurped the throne through conspiracy and murder, neither the Purāṇas nor the authors of well-known Sanskrit works could have overlooked and omitted it. That applies to the alleged murder of the young princes also. Evidence of the entire Indian tradition goes against it. Scholars have tried by hook or by crook to identify Xandrames with the last ruler of the Nanda dynasty and hence they lay the blame of conspiracy and murder at the door of Mahāpadma without least evidence. But then, they fail to agree on the vital points of the identity of the victim and the time of the murder.<sup>14</sup>

**3. States of the Usurper**—It is indisputable to the Purāṇas that Mahāpadma succeeded Mahtanandi. The only dispute we notice therein is regarding the length of his reign. One reading assigns 88 years to him, the other 28 only. Diodorus does not say the lover of the queen ascended to the throne after the murder of the old king. Xandrames ascended to the throne immediately after the death of the old king and was the ruler at the time Alexander invaded the country according to him. Curtius is a later author and surely less reliable. Moreover, Curtius is quite equivocal when he speaks about the assumption of supreme power, The interpretation suitable to the context is that the barber controlled the kingdom as the guardian of the young incumbent, He did not become a king even for an hour. Bairam Khan had the supreme power after the death of Humayun, but he did not become the emperor of Delhi and he is not counted as such. The lover of the queen too might have enjoyed power similarly. Hence he cannot be identified with Mahāpadma who

became a sovereign in the real sense of the term and founded a dynasty.

**4. Number of the components of the dynasty**—Indian tradition is almost unanimous in holding that the Nanda dynasty consisted of nine rulers. The 'Mahābodhi Vaṃṣā' from Ceylon supports it. Hemchandra, the Jaina Scholar reduces it to eight—i.e. Mahāpadma and his seven sons. Diodorus names only one king who succeeded the old king—Xandrames. As the barber favoured by the queen did not ascend the throne, we must keep him aside. Moreover, as ANDROCOTTUS (or SANDROCOTTUS) had replaced Xandrames when SELEUCUS visited India, the previous dynasty must have ended with Xandrames. Even if the equivocal Statement of Curtius is taken to mean that the barber had become a king, the number does not exceed two. Realising the obstacle it places in the way of identifying Xandrames with a Nanda ruler, our esteemed scholars have left no stone unturned to reduce the number of the Nanda rulers. Despite a lot of manipulation of texts, R.m. Smith has not succeeded in bringing the number to one or two. There were three rulers in the Nanda dynasty according to him, namely, Mahāpadma, Sahalya and Nandendu. So even the best efforts for identification have failed.<sup>15</sup>

Yet R.M. Smith has created a grammatical problem by his manipulation of the text. He translates पर्याये in महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् as 'manner'. The sentence, therefore, means: "Nanda's successors did continue in this manner, and it was not a popular one." Monier Williams, quoting the 'Saddharma—Puṇḍarīka, gives such a meaning of the word. The trouble with the interpretation is it disregards the style of the Purāṇas. Whenever the Purāṇas use the word, they use it in the sense of 'the line of succession'. But that is not the main objection against him. The real problem is: if there were only two kings after Mahāpadma in the dynasty, the text should not have used the plural (नृपाः) but dual for them. Absence of dual in English is only partially responsible for this oversight on the part of the esteemed scholar.

**5. Duration of Reign**—Xandrames must have reigned after the murder of the old king and before the ascension to the throne of SANDROCOTTUS according to the testimony of the classical writers. Nobody assigns a date later than 309 B.C. to the ascension of SANDROCOTTUS i.e. the reign of the dynasty did not last longer than 18 years after the invasion. Xandrames was ruling independently at the time of invasion and his vices had become known to all. So he must have been around 22 at the time. If he ascended the throne at the

age of 12, he might have ruled for a decade before Alexander's invasion. Thus the entire span of his reign could not have passed beyond 28 years. Though that does not seem much different from what the Ceylone tradition says about the Nanda dynasty, it does not stand the test of Indian tradition.

The Nandas ruled for 22 years according to the Ceylonese tradition. The minimum span in the Jain tradition is 95 years, while it is 100 years in the Purāṇas. Even according to R.M. Smith, the dynasty ruled for 108 years (Mahāpadma for 88, Sahalya for 8 and Nandendu for 12 years):<sup>16</sup> The reign of the dynasty, however, cannot be less than 136 years. Coronation of Mahāpadma took place 1500 years after the birth of Parīkṣita and the latter was coronated at the age of 36, which marked the commencement of the Kali age. When the original 1200 years of the Kali as well as the 400 years of the 'Sandhyā' of the Kṛta expired and signs of better times were not seen, the Kali was declared to have got extended. That happened 1636 years after the birth of Parīkṣita. The Purāṇas, however, declare that the Kali got extended after the Nanda dynasty (ततः नन्दात्प्रभृत्येष कलिवृद्धिर्भविष्यति). Thus the Nanda dynasty began 1500 years after the birth of Parīkṣita and ended 1636 years after the same. So the reign of the Nanda dynasty covered a period of 136 years (1636-1500=136).<sup>17</sup> How can the brief rule of Xandrames be identified with the long 136 years of the Nanda rule ?

### GANGARIDAE : Its Location

As Xandrames cannot be identified with a Nanda ruler, his successors identification with Chandragupta Maurya loses ground. Still we discuss it further to dispel and doubts that remain. Bankim Chandra Chatterjee deemed it enough to identify GANGARIDAE with the RĀḌHA region of West Bengal and PALIBOTHTRA with PĀṬALIPUTRA. Hemachandra RayChaudhury in his 'STUDIES IN INDIAN ANTIQUITIES' concluded that the vast territory lying on the east bank of the Gangā-Bhāgrathi was called GANGARIDAE or GANGĀRĀṢṬRA while PRASIOI, PRĀCHYA KĀṢṬRA in Sanskrit, covered the entire Gangā valley from the Gangā-Bhāgrathi and included TĀMRALIPTA. GANGE, famous centre of overseas trade in the GANGARIDAE mentioned by the PERIPLUS and PTOLEMY lay at the mouth of the KAMBERIKHON (the river Kumār in Bangladesh. Nihar Ranjan Ray supports him and their views have gained wide currency and recognition. While not deviating from this tradition in general, some scholars in Bengal have opined otherwise on certain point. Thus, it is said PRASIAOI is

derived from PALAŚĪYA and the word 'PALĀŚA' means the country of Magadha according to the 'Śabda-kalpadruma' and the 'Śabda-ratnāvalī'. The oldest authority, DIODORUS has 'GANDARIDAI' for 'GANGARIDAE' and so it is contended that the original word was neither 'GANGĀRĀṢṬRA'/'GANGĀRĀḌHĪ' (as Bankim Chandra Chatterjee held) nor 'GANGĀHRDI' (as the Bengali poet Satyendranath Datta believed), but 'Gaudiya'.<sup>19</sup>

Bankim Chandra was careless enough to mistake an ambassador for a historian. His incompetence as a linguist is obvious. Even in Bengal nobody follows him in holding that MEWAR is derived from MADHYA-RĀṢṬRA and GUJARAT from GARJA-RĀṢṬRA. There is nothing to prove that a word like GANGĀRĀḌHĪ was really in vogue during the days of Alexander. It is impossible to explain words like SANDACOTTUS and PALIBOTHTRA without conceding the point that the classical authors got their proper names from Sanskrit. So there is little possibility that Alexander and his contemporaries ever heard a word like 'GANGĀRĀḌHĪ'. As to the use of the word in the inscription of ANANTAVARMĀ, it would be relevant only if Anantavarmā were anterior to or contemporary of Alexander.

We learn the following from Dr. Radha Kumud Mukherjee in this connection : Anantavarmā assumed the title of 'trikalingādhīpati' in 1038 and founded what became known later as the eastern Gangā dynasty, he exploited a civil war in Kalinga to annex it to his kingdom. Sometime before 1138 A.C., he invaded Bengal during the reign of the Pāla rulers and waged war against the Kalchuris and the Paramaras, he lived up to 1150 A.C. and gained fame by having got the well-known temple of Purī constructed.<sup>20</sup> The year '1038' is obviously a misprint here. The context reveals that 1138 A.C. is intended here. So we find that Anantavarmā alias KOLĀHALA flourished more than 1400 years after Alexander. Lot of old names could become obsolete and replaced by new ones over such a long period along with changes in political geography. So the word known to Anantavarmā need not have remained in vogue during the days of Alexander.

Bankim Chandra Chatterjee hits a remarkable point when he asserts that the Gangā flowing from north to south marked the eastern border of the GANGĀRIDAI. That is applicable in case of West Bengal to some extent. The river enters West Bengal through the south-west of Malda district and branches into two near DHULIAN in the district of Murshidabad, One of the branches known as Padma flows to the east in Bangladesh and joins the sea



ultimately. The other known as Bhāgrathī and later Hooghly flows through West Bengal to the sea. To accept the interpretation of Bankim Chandra Chatterjee means including Tamralipta (in what is the district of Midnapore now) in GANGĀRIDAE but excluding the whole of Bangladesh and the eastern part of Murshidabad and the districts of Nadia, North 24 Parganas, South 24 Parganas and Calcutta totally. Scholars both in Bangladesh do not like the idea of excluding Bangladesh despite pulling GANGĀRIDAE so far. That is what necessitates placing GANGĀRĀṢṬRA on the east bank of the Bhāgrathī and PRACHYA-RĀṢṬRA on the western bank of it. Authors of north Bengal are not satisfied even with that and, therefore, they seek 'Gauḍiya' in GANDARDAI. 'GANGĀRIDAI' cannot be derived from GANGĀ-RĀṢṬRA in fact. Nor can we derive GANDARDAI from GAUḌA or GAUḌIYA. Transformation of 'au' in latter words into 'a' and appearance of 'n', 'ra' and 'da' in the GANDARDAI demand explanation and nobody free from prejudices would admit theories like that.

In their zeal to glorify their land such scholars do not bother to think why a ruler of Bengal would bother to confront a foreign army as soon as it crossed the river Beas and proceeded towards the Gangā. If it is argued that the kingdom of Xandrames extended up to that point, a number of questions arise. Is the fact that part or whole of Bengal was included in his kingdom enough to establish that Xandrames hailed from Bengal? What is there to prove that the army of a kingdom that extended from Bengal to Haryana consisted of the Bengalis only? And finally if Xandrames' army included non-Bengalis, who are expected to be deployed against the foreign invader on the western border at a time when there were no railways and no aircrafts—soldiers from Haryana and Uttar Pradesh or those from Bangladesh and W. B.? So the boast of Bankim Chandra Chatterjee and followers that Alexander's army retreated for the fear of the Bengali army is simply ludicrous and false to the core.

We have seen earlier GANGARIDAI mentioned in the quotations from DIODORUS, CURTIUS and PLUTARCH. Now let us see what Solinus says—"The least breadth of the Ganges is eight miles, and its greatest twenty. Its depth where it is shallowest is fully a hundred feet. The people who live in the furthest. Off part are the GANGARIDES, whose king possesses 1000 horse, 700 elephant and 60,000 foot in apparatus of war."<sup>21</sup> And Diodorus remarks: "Now this river (Ganges), which is 30 stadia broad, flows north to south, and empties its waters into the ocean forming the eastern boundary of the GANGARIDAI, a nation which possesses the greatest number

of elephants and the largest in size. Owing to this, their country has never been conquered by any foreign king; for all other nations dread the overwhelming number and strength of these animals. Thus Alexander the Macedonian, after conquering all Asia, did not make war upon the GANGARIDAI, as he did on all others; for when he had arrived with all his troops at the river Ganges, and had subdued all other Indians, he abandoned as hopeless an invasion of the GANGARIDAI, when he learned that they possessed four thousand elephants well-trained and equipped for war."<sup>22</sup> The Gangā flows mostly from north-east to south-west in Bangladesh. With the exception of the districts of KHULNA and BARISAL, there is no territory in Bangladesh with the Gangā flowing north to south in the east. Nor have we got a single proof to establish that any part of West Bengal or Bangladesh was known as GANGARIDAI in the fourth century B.C. It would be indeed peculiar to apply the name 'GANGĀ RĀŚTRA' not to the regions where numerous cities, holy places and cultural centres flourished but to a region near the sea. Were that true in ancient India, we would find something in literature to substantiate it.

The only support for connecting GANGARIDAE with West Bengal and Bangladesh comes from words like "farther" and "farthest" in the accounts. Thus Curtius says that "the farthest bank" of the Ganges was inhabited by two nations, the GANGARIDAI and PRASII, Plutarch says the "farther banks" of the Ganges were covered with the army of the GANDARITAI and PRAISIAI. Solinus says, "The people who live in the farthest-off part are the GANGARIDAES." How can that mean West Bengal and Bangladesh? The words "farther" and "farthest" are relative and ought to be understood according to the context. That Alexander's army retreated from the western bank of Vipāśā is a point admitted by all. The western bank of the Gangā was "far" to the Macedonians, the eastern bank of the Gangā was "farther" and the places beyond that were "farthest" to them. That is what Curtius, Plutarch and Solinus mean.

While we do not find a name like GANGĀRĀŚTRA applied to any part of West Bengal or Bangladesh, something like that is used in the Purāṇas for a territory under the Gupta kings :—

अनुगङ्गा प्रयागं च साकेतं मगधास्तथा ।

एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥<sup>23</sup>

Two of the copies of the Vāyupurāṇa have 'anugangam' instead of 'anugangā' according to Pargiter. So we can conclude that the

territories lying in the west of Prayāga on the bank of the Gangā were known as 'anugangā' or 'anugangam' during the reign of the Imperial Guptas. That does not, however, mean that 'anugangam' is identical with GANGARIDAI. The word GANGARIDAE or GANGARIDAI is used once by Curtius, twice by Justin and once by Diodorus and Ptolemy. Plutarch has GANDARITAI at one place and GANDARIDAI at the other. Diodorus uses GANGARIDAI once and GANDARITAI thrice. Thus, even Diodorus who is the earliest of them, uses two forms of the name.<sup>24</sup> That shows the inability of the authors of the accounts to pick up the word and spell it correctly. So we have to look for a word in Sanskrit which could have got transformed in the three-fold manner mentioned above. 'Gangādvāriya' is the only word we find. If the river Gangā flowing from north to south formed the eastern border of the nation, it must have included all the territories between the rivers Vipāśā and Gangā. 'Gangādvāra' is the other word for Haridvāra and its neighbouring land and a Janapada could well have been named after it.

In this connection, we may refer to Dr. B.C. Law : "The Bhāgīrathī is seen for the first time near GANGOTRI in the GARHWAL region. This combined course from Devaprayāga onwards is known as the Gangā. Its descent from Dehradun to Haridvāra is generally speedy and known as GANGĀDVĀRA. The flow of the Gangā is south wards from Haridvāra to Bulandshahar and then up to Prayāga where the Yamuna joins it, it flows to the south-east. It flows to the east from Allahabad to Rajmahal and then it turns to the south-east again (retranslated from Hindi)."<sup>25</sup> Thus, the south ward flow of the Gangā is from Haridvāra to Bulandshahar and that precisely forms the eastern border of the "Gangā dvāriya" janapada of the times of Alexander. Curtius is, therefore, undoubtedly mistaken when he seems to place GANGARIDAE on the eastern bank of the Gangā with the Prasii. Diodorus, who is prior to him, mentions the eastern border of the GANGARIDAE clearly at one place but commits a similar mistake at the other. Such confusion seems to have arisen from corruption in the text. To insist upon placing GANGARIDAE on the eastern bank of the Bhāgīrathī somewhere in or up to Bangladesh on the authority of Curtius and self-contradicting Diodorus, one must place Prāchya-rāṣṭra too on the same bank and there by exclude Pāṭaliputra from it which is sought to be identified with Palibothrus by the adherents of the current theories.

(to be continued)

## References

1. BANKIM RACHANAVALI, Part II, SAHITYA-SAMSAH, Calcutta, Bangabada 1371, pp. 334-335
2. Do, p. 335
3. Classical Accounts of India, edited by Dr. R.C. Majumdar, Calcutta, 1981, pp. xi-xii
4. Do, p. 1
5. Do, pp. 461-462
6. Do, pp. 232, 244, 337, 103, 194, 162, 188
7. Do, pp. 462-469
8. Do, p. 172
9. Do, pp. 128-129
10. Do, p. 198
11. Dr. R. M. Smith, Dates and Dynasties in Earliest India, Delhi, 1973, pp. 357-358
12. Pargiter, Purāna Texts of the Dynasties of the Kali Age, 1913, pp. 24-26
13. R. M. Smith, D.D.E.I., p. 357
14. Do, pp. 359-360
15. Do, p. 359
16. Do, p. 359
१७. ऋतम्मरा (आचार्य उदयवीर शास्त्री अभिनन्दन ग्रंथ) में प्रकाशित परीक्षित-नन्दान्तर-निर्णय' द्रष्टव्य ।
१८. नीहाररंजन राय, बाङ्गलार इतिहास आदिपर्व, साक्षरता प्रकाशन, १९८० ई०, प्रथम खंड, पृ० ४६२-४६३
१९. सुकुमार दास, उत्तरबंगेर इतिहास, कलकता, १९८२ ई०, पृ० ४४-४५; प्रभास-चन्द्र सेन बाङ्गलार इतिहास, पृ० ७८-७९
२०. राधाकुमुद मुकर्जी, प्राचीन भारत, सन् १९८०, पृ० १७५-१७६
21. Classical Accounts of India, p. 454
22. Do, p. 234
23. Pargiter, DKA, p. 53
24. Classical Accounts of India, pp. 128, 189-190, 170-173, 234, 198, 204, 375
२५. जाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० १८१-१८२

## AN EXAMINATION OF BRAHMA-SUTRA II, 2,33\*

□ Dr. Ramjee Singh

### 1. Aphorism and Contradiction

The aphorism under examination seems to be an innocent statement of the Law of Contradiction. However, the purpose of this aphorism<sup>1</sup> is to examine the Jaina logic of seven paralogsims, which is declared to be a wrong theory because in one substance it is not possible that contradictory qualities should exist simultaneously.

However, I think that many of the misgivings would have been avoided if there would have been proper reference to the Universe of Discourse and a little more sympathetic understanding of the Jaina point of view. For, even the law of Contradiction means that two contradictory terms *B* and *Not-B* cannot both be true *at the same*

\* The *Brahma Sūtras* are the earliest known work on the subject. Panini refers to *Pārāśarya Sūtras* (in iv. 3.110). Most probably these are the same; but they are neither the *vedānta sūtras*, as the commentators perceive nor the substance of the *Upanisadas*. Sūtrakār cites quotations from 8 other Acharyas. Furthermore he advocates absolutistic thiesm and refutes of the opposed systems. The opponents are the *Sāmkyas* and *Mimānsakas* and not the *Arhatas* or *Jains* as such.

The Jains recognise two fundamental catagories of objects *Jīva* and *Ajīva*, self and non-self with their subordinate catagories etc. But the *Sūtrakār* (in II. 2.33-36) does not propagate or reject the Jain theory. He simply talks about the 'Negation'. Previously he refuted the admission of *Samavāya* (as a separate existence) in *Sūtra* II.2.13 (समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः) and now he speaks not to inhere in one and the same thing contradictory attributes as existent and non-existent because it is also impossible (नैकस्मिन्नसम्भवात्).

Anyhow the reputed and learned scholar like Dr. Ramjee Singh has examined the *Sūtra* (Not the all four *Sūtras*) critically. He has included latter thinkings and the views of the commentators and maintained that any charge of contradiction against the co-presence of being and not being in the real is a figment of apriori logic.

We invite the scholars to join him and discuss the matter throughly.

—Edito r

*time of one and the same individual thing A.* In other words, two contradictory propositions cannot both be true, that is, one must be false. A man cannot at the same time, be 'alive' and 'dead'. This means that the products of thought should be free from inconsistency and contradiction i.e., valid in Hamilton's sense.<sup>2</sup> However, Mill goes ahead and holds that it must also be true, i.e., agree with the reality of things.<sup>3</sup> It means that "before dealing with a judgment or reasoning expressed in language, the import of its terms should be fully understood, in other words, logical postulates to be allowed to state explicitly in language all that is implicitly contained in thought."<sup>4</sup> The Pragmatists also complain against the Formal Logic regarding its abstraction from the context.<sup>5</sup> Even Mathematical Logicians, according to whom there is "no essential connection between connotation and denotation",<sup>6</sup> admit the conception of a Universe of Discourse in the sense of "a given context, or range of significance."<sup>7</sup>

## 2. Hegelian Interpretation of the Law of Contradiction

That being and not-being are identical seems to be Hegel's denial of the Law of Contradiction. But it is more apparent than real. It is the very Law which compels us to pass from the second to the third category of each triad, because reason cannot rest in contradiction, Hegel understands *identity* as *mutual implication* or *correlation*. So while subordinating *distinction* to identity, Hegel admits two utterly different kinds of identity, corresponding to the difference of thought and intuition, which cannot be reduced to further identity. This is *contradiction*.

'A is B' and 'A is not B' cannot both be true if it is assumed that 'A' as subject of either suggested predication, is absolutely self-identical without difference. When it is true that A is both *B* and *not-B*. A is identical-in-difference, and even empirical thinking moves only on the assumption that identity-in-difference is a fact, etc., if not a universal fact.

Hegel might seem to violate the Law of Contradiction when we identify *thought* with *understanding*. Antithesis is not just the *negation of thesis* but it is the *negated thesis*. In empirical thinking, violation of the Law of Contradiction might be avoided by the expansion in space or time of the logical subject. So, we can conclude that the dialectical triad does not violate the Law of Contradiction, rather the opposites of dialectic reconcile contradiction and so far it has failed fully to reconcile contradiction in the synthesis of any triad, it becomes the thesis to a fresh antithesis.

### 3. The Four-cornered Negation and Contradiction

The four-cornered negation of the Madhyamika Buddhists, according to whom, *reality* is not (neither *B* nor *not-B* nor *both B* and *not-B* nor *neither B* and *not-B*). But if reality is “neither Being nor Non-being” can also be negated. But the Madhyamikas hold that though the reality is not *Being* or *Non-being* but it cannot be different from them. So even the *neither...nor* (i.e. neither Being nor Non-Being) has to be negated, without affirming either Being or Non-Being. In short, there is negation and negation only or double negation.

This looks like violating the Law of Contradiction for there seems to be an assertion that there is middle between the two Contradiction because there is denial of both. But the Madhyamikas never admit that they are never asserting that there is a middle between the two contradictions *B* and *not-B*. Professor Raju,<sup>8</sup> however, suggest a technical device for the relief of the Buddhist to meet the charge of violation of the Law of Contradiction. In the four-cornered negation or just double negation, if we distinguish between contrary and Contradictory opposition of Western Logic, we will see that two contraries can be negated but not the two contradictories.

#### 4. Law of Contradiction and the Advaita Vedanta

To Sankara, Being and Not-being are *contraries*, not *contradictories*. Reality is *Being*; Non-being is unreal as the son of a barren woman but there is the third order of reality which is neither *Being* nor *Non-being*. This is the phenomenal world which is neither real nor unreal but phenomenal or indescribable. This is *Māyā*. In classical Sanskrit, perhaps, there is no distinction between the *contrary* and the *contradictory* hence the discussion is carried over the principle of double negation—if it is applicable to an opposition, it is contradictory, otherwise contrary.

To illustrate this point, I shall discuss in brief about the nature of self or A man as described in the Upanishads.<sup>9</sup> That self is *mobile* and yet *immobile* also; distant yet *near*, *transcendent* yet *immanent*. “Sankara,<sup>10</sup> in his interpretation to this verse anticipates the objections of his opponents as to how these contradictory predications are made about the same subject? This is apparent violation of the Law of Contradiction. But Sankara says that there is no such fallacy (*naīṣa doṣah*)<sup>11</sup> because “two contradictory statements have been made from two separate standpoints. Atman is said to be *immobile* and *one* viewed from the ultimate point of view when the Brahman-Atman is free from all conditions. But it can also be described as more *mobile*

than mind when it is associated with the powers of limiting adjunct of being an internal organ, hence there is such Śruti passage, *manso javiyo* (faster than mind).<sup>12</sup> Similarly, Atman is described as *far* and *distant* (*tad dure*) as it is beyond their reach but for the wise people, it is described as within the hearts of all (*tadantrasya sarvasva*)<sup>13</sup> who knows the reality. Similar statements with contradictory predications are found at other places and Sankara has not other alternative but to reconcile them with the help of multi-valued logic, the merit of which he unfortunately forgets while criticising the Jaina theory of affirmative-negative predications (*asti-nasti-vāda*). However, if we remember the Jaina doctrine of reality<sup>14</sup> as identity-in-difference which is both a permanent and changing entity manifesting through constant change of appearance and disappearance, then we can easily understand that a fact of reality when looked at from the underlying permanent substance may be described as permanent, where from the point of view of the modes (*pariyāya*) which appear and disappear, the thing may be described to be non-permanent and changing. This difference of aspect is the well known Jaina doctrine of *Naya*. It is indeed a tragedy that Sankara, while making distinction between the *Vyavaharic* and *Paramarthic points of view* throughout his commentary forgets the same in respect of Jainism. In common experience, we find in the same object, the *existence* of one thing (pot) while the *non-existence* of the other (cloth). This does not mean that the same thing is both pot and cloth, hence there is no contradiction.<sup>15</sup> Examples of co-existing self-contradictory attributes are daily perceived only in the changed context. For examples, in the same tree, the trunk is *stationery* while the branches and leaves are in *motion*. Like Kundakunda, Sankara examines every problem from the two points of view, practical and real and this doctrine is the supporting edifice of the Advait philosophy. The same material clay or gold may be transformed into various forms. So to speak of a thing as *one* or *many* entirely depends upon the point of view we adopt. The same substance *mud* is spoken differently as *jan, jug* etc. "Devaduta although being *one* only form the object of many different names and notions according as he is considered in himself or in his relations to other; thus he is thought and spoken of as a man, Brahmin, learned in the Veda, son, grandson, etc. etc." Does it not exactly look like the Jaina point of view of *asti-nastivāda*.<sup>16</sup> Then why Sankara adopts a double standard? Is it because he was a mere commentator of an already existing work?<sup>17</sup>

### 5. Ramanuja and Contradiction

Like Sankara, Ramanuja also criticises Jaina theory of seven



paralogisms.<sup>18</sup> No doubt, he recognises substance and attributes as *distincts* but he says that *asti* and *nasti* cannot be predicated of the same thing from the *Dravya*, point of view alone,<sup>19</sup> i.e. the same substance cannot have the two contradictory predicates. In spite of this, Ramanuja seems to be very much prejudiced about the Jaina theory when he asks : How can we say that the same thing *is* and *is not* at the same time ? However, Ramanuja forgets that if we describe a thing both from the standpoint of underlying substance (*dravya*) and its modifications (*pariyāya*), we shall have no such difficulty. We meet with these difficulties because we prefer to live in the world of empty abstractians. In attempting to reject the theory of identity-in-difference (*bhedābheda*). Ramanuja<sup>20</sup> must be fully conscious how his own theory of qualified monism (*viśiṭādvāita*) is seriously affected. In a sense, the Vedantic metaphysics of Ramanuja is the doctrine of *one* and *many*. It is *one* when we talk of the one absolute Brahman, it is *many* when we know about the multiple *jivas* and the multivesre universe. And when reality is *one* and *many* at the same time, Vedantism itself becomes a sufficient argument in favour of *Syādvāda*. How the Absolute, which is one and only one, becomes the self of all ? How Brahman consists of both conscious (*chit*) and unconscious (*achita*) elements ? If these contradictions can be reconciled by Ramanuja, he should not find fault with the very logical calculus of reconciliation. Hence, Ramanuja's charge of contradiction upon *Syādvāda* Logic is inconsistent with his own position.<sup>21</sup> Hence, it is better to formulate his position as identity-in-difference (*Hegel*), unity-in-diversity (*Bradley*), a constant which is varying. True, Sankara and Bradhy would condemn the world of diversity to the hell of appearance of *māyā*, Ramanuja has to accept both. Hence any charge of contradiction upon *Syādvāda* will simply recoil on his head like a boomerang and destroy the entire edifice of his metaphysics. *Anekāntavāda* pleads for soberness and loyalty to experience which discards absolutism. The dual nature of things is proved by a reductio-ad-absurdum of the opposite views. This does not mean any offence to the canons of logic. The concept of pure logic which is prior to and absolutely independent of experience, is dangerous. "Logic is to septematise and rationalise what experience offers."<sup>22</sup> In one word logic must be loyal to *reason* and *experience* alike. Even *Vedānta* ultimately relin on experience to prove the reality of existence-consciousness Brahman.

## 6. Some other Vedantic Acharyas and Contradiction

According to Vijnanbhikshu, unless the qualitative differences (*prakāra bheda*) are recognised as true, two fundamentally opposite

things cannot be reconciled into one object. But if the differences are recognised as true, it amounts to the Vedantic position.<sup>23</sup> But can we not ask the Vedantin : how *ultimate* differences can be reconciled with *ultimat* identity of Brahman ? Either they should accept *identity* as *ultimate* or differences as *ultimate* but not *both*. However, the Jainas can avoid such a pitfall by accepting the differences from the relative standpoints. We can speak of existence (*bhāva*) and non-existence (*abhāva*) of the same thing from two standpoints without being inconsistent. Existence and non-existence, co-existing in the same thing is said to be contradictory because both of them are taken as whole characteristics. It can be well reconciled by taking them as part characteristics.

Vallabha<sup>24</sup> also suffers from the same defect as Vijnanbhikshu when he insists upon the fact that differences can be reconciled *only* in the Absolute Brahman, who assumes the form of the *Jivas* for enjoyment of bliss. However, it is difficult to follow how the formless Brahman assumes different forms : how *one* becomes many ? If the law of contradiction is not violated here, the same change cannot be levelled against the Jaina position when the contradictory attributes are said to inhere in the same object from the different relative standpoints.

Srikantha's misunderstanding of the Jaina position is worse. While he accepts that possibility of reconciliation of the contradictory attributes in the same object from different standpoints, he outright denies that the Jainas ever adhere to the relativistic logic,<sup>25</sup>

Lastly, Nimbarka and Bhaskara, who broadly accept the Jaina principle of identity-in-difference or unity-in-diversity with regard to nature of reality, also fail to appreciate the true impart of Jaina principle. Nimbark,<sup>26</sup> for instance, who is out and out upholder of this principle, refuses to admit the application of this principle in matter of *Syādvāda*. His commentator Sri Nivasacharyas<sup>26</sup> explanation becomes unphilosophical when he says that the qualification for admitting this principle of identity-in-difference lies in the *Śruti* and not logic.

Bhaskar<sup>28</sup> argues that if non-absolutism (*anekānta*) is universal, it becomes absolute (*ekānta*), of not it is nothing definite. Thus "tossed between the two horns of the dilemma non-apsolutism thus evaporates."<sup>29</sup> However, Bhaskar fails to note the Jaina distinction between valid non-absolute (*samyakanekānta*) and invalid non-absolute (*mīthyā-anekānta*).<sup>30</sup> To be valid, *anekānta* must not be absolute but relative. The doctrine of non-absolutism can be interpreted either as *absolute* or non-absolute according to *Pramāna* or *Nava* respectively,

which only suggests that non-absolutism is not absolute unconditionally.<sup>31</sup> But the unconditionality of *Anekānta* or *Syādvāda* is quite different from the normal meaning of unconditionality. This is like the idea contained in the passage "I do not know myself", where there is no contradiction there, there is no contradiction between knowledge and ignorance. Similarly, in the sentence, "I am undecided", there is atleast one decision that I am undecided. As a matter of fact, these critics fail to appreciate the fact that everything is possible only in relation to and as distinct from something other. Contradictory characteristics of reality are interpreted as co-existent in the same object from different points of view without any offence to logic. Law of Contradiction is the negative aspect of the Law of Identity. Hence "any charge of contradiction against the co-presence of being and non-being in the real is a figment of a priori logic."<sup>32</sup>

### Reference

1. "Not in one substance because of the impossibility" Brahma Sūtra, II.2.33.
2. Hamilton, *Lectures*, Vol. III. p.p. 25-26.
3. Mill, J.S., *Examination of Hamiltons' Philosophy*.
4. Hamilton, *Lectures*, Vol. III. p. 114.
5. See F.C.S. Schiller's *Logic For Use*, chapter on 'Formal Theories of Judgment' and 'Meaning'. Also see John Dewey's *Logic*, p. 192.
6. Stebbing, L.S., *An Introduction to Modern Logic*, p. 55.
7. *Ibid.*, p. 56.
8. Raju, P.T. The Four-cornered Negation, *The Review of Metaphysics*, Vol. VII. No. 4 June, 1954.
9. *Isa Upenisad*, 5 and 6 cp. svet. up. III. 20; I. 8.
10. *Isa Upanisad* with Sankara's Commentary, 5.
11. " " *Ibid.*, 4.
12. " " *Ibid.*, 4.
13. " " *Ibid.*, 5.
14. Umasvami, *Tattvartha Sūtra*, See also Kundakunda *Samayasāra* (introduction by A. Chakravarti, p. cxxxiii)
15. Rajendra Kumar, "Anekanta, Syadvada Aur Saptabhangi" in *Jaina Darśana*, year I, No. I.
16. Sankara's statement quoted by A, Chakravarti in his Introduction to *Samyasāra*, p. clix.
17. *Ibid.*, clx.
18. Sri Bhasya of Ramanuja on Brahma-sūtra, II, 2.33.

19. Khusala Chandra, "Vedanta Sūtra Ke Vyakhyakara Aur Saptabhangi", is Jaina *Darṣana*, year I. No. 1.
20. Ramanuja, *Vedanta Pradīpa*, p. 111 Ramanuja brings the charge of contradiction on Syādvāda because he treats the predications as absolute and unconditional. As Bertrand Russele refers to Menong's theory of *objective fact*, there must be a *negative fact* (see his *American lectures on logical Atomism*). Jainism recognises nature (*rūpa*), substance (*drāvya*), space (*kshetra*), and time (*kāla*) both positively and negatively.
21. Both identity and difference live in its bosom. The Jainas arrive at this conclusion through a relativistic logic of *asti-nasti-vāda*. See *syādvāda Manjari*, 5,6,13,29.
22. Mookerjee, S., *The Jaina Philosophy of Absolutism* (Calcutta, 1944). p. 78.  
"To allow logic to work is *vacuo* and to dictate terms to the data of experience.....and the unfeltered excessive of logic, in defiance of and in opposition to the testimony of experience, has been responsible for hopelessly chaotic results achieved by metaphysical speculation—Ibid.
23. Vijnabhikshu—*Vijnanamṛta Bhaṣya*, II, 2.33.  
"Prakaravedam Bina Virudhayorekada Sahavasthana sambhāvata". etc.
24. Vallabha, *Anu-bhaṣya*, II, 2.33.
25. Srikantha, *Sri Kantha-bhaṣya*, II, 2.33. with Tika of Appayadi-kshita.
26. Nimbarka, *Nimbarka-bhaṣya*, II, 2.33.
27. Sri Nivasacharya, *Tika on Nimbārka-Baṣya*, II, 2.33.
28. Bhaskar Bhaṣya. On B.S. II, 2.33.
29. Mookerjee, S., Ibid., p. 171.
30. Samantabhadra, *Apta-mimamsa*, K. 108; *Asta Sahasri (vidyanandi)*, p. 290, *Nyaya-dipika (vidyanandi)*, p.p. 130-1.
31. Samantabhadra, *Svayambhu Stotra*, K. 103.
32. Mookerjee, S., Ibid; p.p. 190.

# Gleanings

## Articles on Educational Psychology]

1. Chattopadhyaya, D.P. 'The right is learning'. *University News*, 28 (18) pp. 11-12.

The conotation of the word "education" is that one gives and the other takes it. But the right word is learning. In the process of learning one need not always depend on the teachers. One can learn from nature, from one's own society and tradition and mostly from one's own experiences. Self learning is the highest form of learning, the consummation of education.

2. Menon, M.G.K. 'The role of education'. *University News*, 27 (23) pp. 27-30.

The role of education is to transform static society into one vibrant with a commitment to change and development. This implies the emergence of a learning society, in which people of all ages and all sections not only have access to education but also get involved in the process of continuing education. Open, non-formal, part-time and adult education must be as meaningful as formal education. These two streams must reinforce each other.

3. Venkataramiah, E.S. 'The secret of teaching'. *University News*, 27 (52) pp. 11-13.

The essential truth about teaching is that it is a one to one encounter. Even when a teacher speaks to a large class, the spark of success is lit when the individual student sitting in the midst of a large number of others like to believe that the teacher is addressing him and others, even if present, are there only by accident, otherwise too, what is being said is addressed to him and him alone.

4. Mohanty, S. B. 'Effective classroom management in higher education'. *University News*, 27 (49) pp. 6-9.

The classroom management strategies identified are (1) knowledge of students and their backgrounds, (2) mastery over content area, (3) appropriate method of teaching, (4) witness of the teacher, (5) purposeful with holding and focussing of attention, (6) appropriate use of reward and punishment, (7) use of humour, (8) use of questions, (9) sensitiveness to student responses, (10) fairness in dealing and (11) democratic approach. A teacher will automatically become aware of these strategies and utilise them to improve the classroom

atmosphere. The techniques are developmental in nature.

5. Mahadevan, u. 'Guidance services in colleges', *University News*, 27 (50), 8-10.

Guidance service involve a process of dynamic interpersonal relationship designed to influence the attitude and subsequent behaviour of a student. Through appropriate guidance services the student is helped to develop desirable attitude and behaviour pattern. A college or a university department with a guidance centre can contribute to a richer, fuller and more satisfying life for the students, teachers, the administrators and the parents. Therefore, such a professional service should be an integral part of the college community, all over the country.

6. Lal, MM. 'Nehru's concept of education', *University News*, 27 (36) pp. 1-5.

According to Nehru : "Right education must be an all round development of the human being, a harmonising of our internal conflicts and a capacity to cooperate with others." Great importance is attached to the practical aspects of education. Education to him was a means to amend and that too the social and national end.

7. Ghosh, D. K. 'New education policy—role of management', *University News*, 27 (49) pp. 1-3.

As the internal efficiency of each institution improves. the performance of teachers and students would improve also. This implies that the role of the administration is to play in the entire system for bringing about greater internal efficiency of each institution. However, the administration of today is no way better in its form and content than what it was 30 years before. The reasons are lack of exposure, absence of training and refresher courses, lack of knowledge of the system or even of one's own institution, lack of motivation, presence of outdated and unworkable age old rules, absence of well defined job description, absence of well defined reporting system as also of involvement and belonging.

8. Mathur, M.L. 'National pattern of education and restructuring of courses.', *University News*, 27 (52) pp. 1-6.

It has been long felt that the first degree courses in Indian Universities need structuring to make them serve better the cause of higher education. Restructuring of course means total redesign of structure to remove the basic weaknesses in our present first degree education and bringing it to international standred and making it relevant to our living. There has to be a national consensus on up gradation of courses and making them more relevant to social living and improving quality of life. A beginning can be made by all the Universities of a state coming together and envolving a common

suitable structure of new three years degree courses.

9. Krishnakumar, K. 'Distance education and self-instructional materials an appraisal'. *University News*, 27 (24) pp. 6-9.

There remains some scepticism about the efficacy of distance education. Distance education suffers from poor quality due to the following reasons : (1) quality of instructional materials, (2) delay in their dispatch, (3) lack of two way communication between the distance learner and the tutor, (4) indifferent evaluation of assignment-responses, (5) inordinate delay in the conduct of examinations and (6) publications of results. The best way to enhance the image of distance education is to improve the quality of self instructional materials.

10. Menon, L. 'Emancipation of Women'. *University News*, 27 (83) pp. 6-10.

Education which is the surest means of emancipation is not available to large masses of women in our country. For a long time higher education was denied to women even when they were entitled to it legally. Today women belong to the handicapped section. Attitudinal change is needed in both men and women. The challenge of women emancipation can not be undertaken by small groups of women. It can only be achieved by women's organisations at the grass roots level. The movement of emancipation can be realised only by women themselves with education and growing awareness.

11. Israney, S. H. "Status of women in the academic world." *University News*. 27 (23) pp. 11-14.

Senior academic ranks and administrative posts should not be such demanding post as to force women to lose her humanity. Many able women are discouraged from making a move from faculty to administration. It is therefore surprising to know that so few women find their way to top faculty and administrative position. Society must broaden the options open to women. It should take the education opportunities of its women as seriously as it does in the case of its men.

12. Shastri, D. "Women's Universities or Universities for women-mission of women's institutions in higher education." *University News*, 27 (25) pp. 3-5.

The foremost task that the women's Universities have to fulfil is to make coverage of higher education for women more wide. They have to make conscious efforts to attract women from those classes and areas which are not yet touched by the liberating and influence of education. Women's Universities have a mission to fulfil.

**R.C. Sharma**

लेखक

## The contributors

१. डॉ० महावीर राज गेलड़ा, कुलपति, जैन विश्व भारती इन्स्टीट्यूट, लाडनू ।
२. डॉ० परमेश्वर सोलङ्की, संपादक, तुलसीप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनू ।
३. प्रो० सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५ ।
४. डॉ० सुनीता कुमारी, रिसर्च एसोसिएट, संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी-५ ।
५. श्री राजवीर सिंह शेखावत, दर्शन-विभाग, राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर-४ ।
६. डॉ० हरिशंकर पाण्डेय, व्याख्याता, प्राकृत-विभाग, जैन विश्व भारती विश्व विद्यालय, लाडनू ।
७. मुनिश्री सुखलालजी ।
८. मुनिश्री गुलाबचंद्र 'निर्मोही' ।
९. डॉ० भगवान दास गुप्त, ११३, खत्रयाना मार्ग, भांसी-२ ।
१०. डॉ० आनन्द मंगल वाजपेयी, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय डीडवाना ।
11. Dr. R. K. seth, Jain vishva Bharati, Ladnun.
12. Pro. Upendranath Roy, Matelli, Dist. Jalpai Guri (W.B)—735223.
13. Dr. Ramjee singh, Head, dept. of Gandhian thought, Bhagalpur University, Bhagalpur.



## दुर्लभ और संग्रहणीय

‘तुलसी प्रज्ञा’ के अनेकों/दुर्लभ अंक पुरानी दरों पर विक्रय हेतु उपलब्ध हैं। खण्ड-१७ के चारों अंक ४५/- रु० में और शेष ३५/- रु० वार्षिक अथवा प्रति अंक १०/ रु० में देय हैं।

कृपया शुल्क तथा पैकिंग और पोस्टल रजिस्ट्रेशन के लिए दस रुपये अग्रिम भेजें और इस सुविधा से लाभ उठावें।

विशेषांकों के लिए प्रति अंक पन्चस रुपये और पोस्टल रजिस्ट्रेशन शुल्क भेजें।

—संपादक, तुलसी प्रज्ञा  
जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६

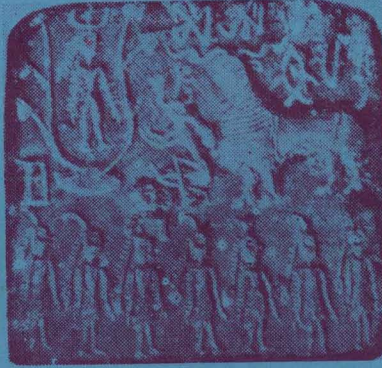
Registration Nos. [ Postal Department : NUR—08  
Registrar of Newspapers for India : 28340/75

Vol. XVIII

TULSI-PRAJÑĀ

1992-93

### ऋषभदेव मुद्रा



कायोत्सर्ग के साथ वृषभ मोहेनजोदड़ो-लोदाई में प्राप्त  
(लग० पांच हजार वर्ष प्राचीन)

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग द्वारा जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६ के लिये  
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू (नागौर) में मुद्रित । संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलङ्की